जैन बुकडिपो, सोलापूर येथें मिळणारीं पुस्तकें.

मराठी पुस्तकें.	कि. रु.	आ.
श्री महापुराणामृत ...	१	०
सागारधर्मामृत....	२	०
अमितगति श्रावकाचार	१	१२
आत्मानुशासन ...	२	०
जिनसेन व गुणभद्राचार्य यांचें चरित्र	०	८
उपदेशरत्नमाला मराठी मो.	०	८
छहढाला मराठी	०	३
पुण्यास्रव पुराण ओवीबद्ध	२	८
उपदेश रत्नमाला ओवीबद्ध	१	०
त्रिवर्णाचार ...	३	०
पद्मनंदी पंचविंशति	३	०
जंबूस्वामीचरित्र पुराण....	१	०
जैनधर्मादर्श	१	०
पंचास्तिकायसमयसार	१	४
देवागम स्तोत्र	१	८
जीवंधरचरित्र ओवीबद्ध	०	१२
जैनकथा सुमनावली	०	१२
अठरा तीर्थंकर चरित्रे....	०	१२
सम्यक्त्व कौमुदी	०	१०
तत्वार्थाचा मराठी अर्थ	०	१२
वसुनंदी श्रावकाचार ...	०	१०
क्रियामंजरी	०	१२
यशोधरचरित्र	०	८
प्रश्नोत्तर माणिक्यमाला	०	८
जैनसिद्धांत प्रवेशिका	०	६
षोडशकारण भावना	०	४
जैनव्रत कथा	०	४
जैनऐतिहासिक स्त्रिया	०	४
रूपिणी	०	६

	कि. रु.	आ.
जैनलग्नविधी	०	४
रत्नकरंड मराठी कविता	०	४
बालबोध जैनधर्म भाग १-२	०	१॥
,, ,, भाग ३-४	०	४
पार्श्वनाथ चरित्र	०	२
महावीर चरित्र	०	२
सामायिक पाठावली	०	२
देशभूषण कुलभूषण चरित्र	०	४
गजकुमार चरित्र	०	३
दशलाक्षणिक धर्म	०	२
महतीसागर चरित्र ...	०	२
श्रुतावतार कथा	०	३
नेमिदूतकाव्य	०	६
नेमिदूतकाव्य कविता	०	२
भजन सद्बोधमालिका	०	
श्रावक प्रतिक्रमण	०	
श्रावक प्रतिक्रमण कविता	०	
बुद्धधर्माचे अमोल्य नियम	०	६
द्वादश अनुप्रेक्षा	०	८
भक्तामर अर्थ	०	३
हिंसानिषेध	०	२
स्मृतिपटल	०	२
रविवारव्रत कथा	०	४
कुंदकुंदाचार्य चरित्र	०	३
जैन मेळ्याचीं पदें ...	०	१
पद्यावली	०	१
विद्योन्नती संवाद	०	१
ईश्वर कांहीं करतो काय?	०	४
जैन पुरोहित	०	६
निर्माल्यद्रव्य चर्चा मराठी	०	४

प्रस्तावना.

आगे 'निर्माल्यद्रव्य–चर्चा' नामक एक पुस्तक और उसका एक परिशिष्ट ऐसे प्रसिद्ध हो चुके हैं जिसके बाद न्यायतीर्थ पंडित बनसीधरजीने 'जैनसिद्धांत' नामक मासिकपत्रमें 'निर्माल्यद्रव्य विनियोग' शीर्षक एक लेख दिया. जिसका उत्तर हमने 'जैनमित्र' साप्ताहिकमें दियाथा. उसके प्रत्युत्तर जैनसिद्धांतमें आयेथे उसके उत्तर सहित सभी लेख इस पुस्तकमें एकत्रित किये हैं. पं० बनसीधरजी देवसेवा करनेवालेको निर्माल्यग्रहण करनेमें दोष नहीं है ऐसा बताते हैं बाकी सभीको निर्माल्यद्रव्य ग्रहण करनेमें पाप बताते हैं. भगवानका पूजन करनेवाला हरएक श्रावक देवसेवा करनेवाला कहा जा सकता है उसने निर्माल्यद्रव्य ग्रहण किया तो उसको दोष नहीं ऐसा कहना परस्पर विरोधी है, और ऐसा प्रतिपादन करनेमें कोई आगम प्रमाण दिया नहीं है. सो वाचकवृंद विचारेंगे.

सोलापूर. ता. ३।३।१९२२ — हिराचंद नेमचंद दोशी



निर्माल्य-विनियोग.

(जैनसिद्धान्त–भाद्रवमास वीरसंवत् २४४६, इ. सन १९२०.)

लेखक–पं० न्यायतीर्थ वंशीधरजी.

देवशास्त्रगुरूणां भो निर्माल्यं स्वीकरोति यः ।
वंशच्छेदं परिप्राप्य स पश्चाद् दुर्गतिं व्रजेत् ॥
[सकलकीर्ति–सुभाषि०]

अर्थ—देव शास्त्र गुरुओंके निर्माल्यको जो स्वीकार करता है उसके वंशका उच्छेद होता है और वह दुर्गतिगामी होता है.

निर्माल्य ग्रहणका इतना बडा दोष है. तब इसका क्या किया जाय ? यह प्रश्न लोग आगे लाते हैं हम आगे चलकर यह दिखावेंगे कि इस प्रश्नमें कुछ भी सार नहीं है और जो विनियोग इसका आजकल हो रहा है वही होना चाहिये; तोभी यह प्रश्न जो समाजमें जोरके साथ फैलाया जा रहा है उसका कारण कहीं तो अज्ञान है और कहीं कषाय है. कषायमें तो लोभ मुख्य है और अज्ञान शास्त्रोंके अर्थका न समझना है आज भी जो उपलब्ध आगम हैं उनका पूर्वापर विचार करनेमें अकांड तांडव करनेका प्रसंग नहीं आसकता है परंतु इतना श्रम करे कौन !

अब हम विषयमें जो लोगोंके आक्षेप होते हैं उनपर विचार करते हैं उनमेंसे एक आक्षेप यह है कि अमृतचंद्र तत्वार्थसारमें इसका निषेध करते हैं. देखो.

प्रमादाद्देवतादत्तनैवेद्यग्रहणं तथा ।
इत्येवमंतरायस्य भवन्त्यास्रवहेतवः ॥

यह श्लोक आस्रव प्रकरणका है. इसका अर्थ है कि देवको अर्पण किये हुए नैवेद्यका ग्रहण करने आदिक कार्य अंतराय कर्मका

आस्रव करते हैं. राजवार्तिककार अकलंक देव भी ऐसा ही कहते हैं. और इन सर्व आचार्योंमें प्राचीन श्री कुंदकुंदाचार्यका यह वचन है कि.

पुत्तकलत्तविहीणो दारिद्दो पंगुमूकवहिरंधो ।
चांडालाइकुजादो पूजादाणाइदव्वहरो ॥ ३२ ॥

अर्थः—पूजादानादिके द्रव्यको जो हरता है वह पुत्रकलत्रविहीन, दरिद्री, पंगु, मूक, बधिर, अंध इत्यादि दुःख पीडित होता है; परभवमें चांडालादि कुलोंमें जन्म लेता है. यहांपर हरण करनेका यह फल बताया है. हरणका अर्थ चोरी करना है अमृतचद्रादि आचार्योंने जो अंतरायका कारण इसे बताया है उससे भी ग्रहण करनेका अर्थ चोरी करना हो सकता है. क्योंकि, चोरी करना विघ्नकरण है जो कि अंतरायका मुख्य कारण है.

विघ्न करना इसलिये चोरी करनेपर सिद्ध होता है कि जिसके अधिकारमें जो है वह उसका उपयोग कर सकता है और करता है. परंतु उसके पाससे निकल जानेपर वह उस उपयोगसे वंचित हो जाता है. इसलिये चोरी करनेवाला पूर्वस्वामीके भोगमें विघ्न करता है.

भगवत्कुंदकुंदके उक्त वचनसे यह मतलब नहीं निकलता कि अर्पण हुई चीजको हरनेमे उक्त दोष लगते हैं. तब? पूजादानादिके लिये जो द्रव्य आगे काममें आनेवाला है उसे हरनेमे उक्त फल प्राप्त होता है दरिद्री नौकर चाकर ऐसा प्रायःकरते हैं कि जो पूजा या दानके लिये सामान रक्खा हो उसमेंसे चुगलेते हैं अर्पण हुए द्रव्यमेंसे भी चुरा लेना संभव है परंतु वह तब जब कि चुराये विना मिल न सकता हो अर्थात् उसका कोई दूसरा ही नियोगपूर्वक लेनेवाला सिद्ध होता जिसे मिलना नियोग प्राप्त नहीं है वह कदाचित् चुराना चाहेगा चुरानेमें मनुष्यकी तभी प्रवृत्ति होती है जब कि दूसरे मार्गसे मिलना कठिन दीखता है इससे यह भी मालूम होता है कि अर्पित द्रव्यको ग्रहण करनेके नियोगी मनुष्य, प्राचीन समयमें भी थे जैसे कि आजकल है. अर्थात्

उस द्रव्यको लेनेका चाहे जिसे अधिकार नहीं है. यही बात निर्माल्य ग्रहणके निषेधसे दिखाई गई है.

इसका यह कारण है कि निर्माल्यपना द्रव्यमें अर्पणके संकल्पसे उत्पन्न होता है. अर्थात् जो अर्पण करता है वह उसे निर्माल्य समझता है. उसका ग्रहण यदि वह स्वयं करे तो लोभकषायकी निवृत्ति होना जो पूजादानका फल है वह फल प्राप्त नहीं हो सकता है. क्योंकि अर्पण करके स्वयं ग्रहण जो करता है उसके परिणामोंमें स्वत्वनिवृत्तिरूप भाव उत्पन्न नहीं होपाता है. एवं, जो दूसरा कोई उसे ग्रहण करना चाहता है उसके परिणामोंमें न्यायोपार्जनकी बुद्धि नहीं रहती क्योंकि, किसी कामके बदलेमें जो किसी एक चीजका ग्रहण करना है उसका नाम न्यायोपार्जन है.

इसका मतलब यह है कि यदि अर्पण करनेवाला स्वयं उस द्रव्यको ग्रहण करले तो वह भी उसका अन्यायी है और जो कुछ भी उससे संबंध न रखनेवाला ग्रहण करले तो वह भी अन्यायी है. अर्थात् उसे जो मनुष्य किसी कामके बदलेमें लेता है वही केवल उस द्रव्यका न्यायोपार्जयिता है. शेष दोनो ही अन्याय्य वृत्तिके मनुष्य ठहरते हैं. यही कारण है कि उनको अंतरायका बंध होता है क्योंकि, जो नियोगी मनुष्यको प्राप्त होनेवाली थी उसे दूसरे हरण करके उस नियोगीके लाभमें विघ्न डालते है. यदि ऐसा अर्थ न माना जाय तो अंतरायके कारण बतानेका दूसरा क्या मतलब होगा?

इस सबका तात्पर्य यह है कि अंतराय कर्मके बांधनेका कारण उस अवस्थामें कहा जासकता है जब कि किसी दूसरे का नियोग रहते हुए उसे आप के अर्थात् उसके लाभमें विघ्न करनेका कारण होनेसे अंतरायका बंध होता है. यह बात उस अवस्थामें है जब कि द्रव्यका अर्पण होचुका हो और जबतक अर्पण न हो तबतक हरण करलेनेवाला दानांतरायका बंध करता है क्योंकि. दान होनेमें विघ्न किया है. इसमेंसे

प्रश्न कर्ताओंका मुख्य आक्षेप निर्माल्य होनेके बाद—समर्पण किये हुए द्रव्यके विषयमें रहता है कि उसका क्या किया जाय? सो उत्तरमें हमारा यह कहना है कि यदि उस द्रव्यका नियोगी कोई भी मनुष्य न रहता हो तो उसका ग्रहण करनेसे अंतराय या विघ्न किसका किया गया जिससे कि अन्तरायका वह कारण हुआ? क्योंकि, अंतरायका मुख्य अर्थ विघ्न है इसलिये यह मानना आवश्यकीय व न्याय प्राप्त होजाता है कि निर्माल्यके ग्रहण करनेवालेने किसी ऐसे लाभमें विघ्न किया है जो कि उस द्रव्यका अधिकारी बननेवाला है.

अब रही यह बात कि जो नियोगी मनुष्य है उसके लिये क्या वह द्रव्य निर्माल्य नहीं है? यदि है तो उस निर्माल्यके ग्रहणका दोष उसे भी माना जायगा या क्या?

इसका थोडेसेमें उत्तर यो है कि निर्माल्यपना प्रतिषेधका हेतु नहीं है किंतु दूसरेके विघ्नका कारण होना प्रतिषेधका हेतु है. प्रत्येक विधान कुछ अपेक्षा रखता है इसी प्रकार यहापर भी जो दूसरे कर्मोका कारण न बताकर अंतरायका कारण माना है उसका हेतु विघ्नकरणता ही होसकती है. इस हेतुकी सिद्धि, जिसके ग्रहण करते समय, होसकती है उसीकेलिये निर्माल्य है और नियोगीके लिये वह निर्माल्य नहीं है. जिस प्रकार सभीकेलिये सर्प सर्प होसकता है परंतु गरुडकेलिये वह सर्प नहीं होसकता. यहापर सर्प शब्द बोलते ही जिस प्रकार भीतिप्रद अर्थ भासने लगता है उसी प्रकार 'निर्माल्य' कहते ही 'अग्राह्य' अर्थ भासने लगता है; और यह उत्सर्ग वाक्य उसी प्रकारका बोला भी जाता है. तो भी जिस प्रकार उस उत्सर्ग वाक्यका तात्पर्यार्थ करते समय 'गरुडको छोडकर शेष सबकेलिये भीतिप्रदपना' ऐसा मानना युक्त है उसी प्रकार 'निर्माल्य' शब्दका भी उत्सर्ग अर्थ 'अग्राह्यता' ऐसा किया जासकता है परंतु तात्पर्यार्थके समय अपवादात्मक नियोगी मनुष्यकेलिये 'ग्राह्यता' मानकर 'शेष सबकेलिये वह अग्राह्य है'

ऐसा मानना युक्तिसंगत होता है. जैसे गरुडको अपवाद माननेका कारण उसकी विशिष्ट शक्ति है वैसे इस नियोगीको अपवाद ठहरानेका कारण देवस्थानकी सेवा है

कुछ लोगोंकी कल्पना यह रहती है कि निर्माल्य हुआ द्रव्य देवके स्वामित्वका होता है. उसके स्वत्वमें विघ्न डालनेसे अंतरायका बंध होता है. परंतु यह समझ ठीक नहीं है.

उपभोग्य वस्तुका स्वामित्व उपभोग लेनेसे पहिले पहिलेतक ठहरता है बादमें वह वस्तु जिस प्रकार उपभोग्य न रहकर उपभुक्त हो जाती है उसी प्रकार उस भोक्ताका उसपरसे स्वामित्व भी हट जाता है और उस उपभोग्य वस्तुका उपभोगके बादका पर्याय त्याज्य हो जाता है. अर्थात् उपभोग्यता जाकर त्याज्यता उत्पन्न हो जाती है. यह उस विषयकी बात हुई. अब देखिये विषयीकी तरफः—

हम ऊपर कहचुके हैं कि भोक्ताका उस द्रव्यपर स्वामित्व तभीतक रहता है जबतक कि उसे भोगकर खतम नहीं किया है. अर्थात भोगनेकी क्रिया समाप्त होनेसे पहिलेतक उस वस्तुका वह मनुष्य स्वामी रहता है जो कि उस द्रव्यको संचित करनेवाला है या जिसके लिये उसका संचय हुआ है; बादमें वह वस्तु जिसके उपभोगमें आनेवाली है वह उसका स्वामी होता है और पहिलेका स्वामित्व हट जाता है, यह अधिकार सृष्टिक्रमप्राप्त है, न कि किसीसे मिलनेपर यह प्राप्त होता है परंतु कृत्रिम अधिकार भी देखना हो तो इसी प्रकारसे दीख पडेगा.

उदाहरणार्थः—भोजनकी वस्तुका स्वामित्व, जबतक भोजन नहीं किया हो तबतक, घरके मनुष्यको प्राप्त रहता है पर बादमें, जहा देहात है वहां, कुदरती स्वामित्व सूअर वगैरे विष्ठाभोजी जनावरोंको प्राप्त हो जाता है. यदि वह विष्ठा खातके रूपमें माना गया हो तो उत्तर प्रांतमें जमींदार लंबरदार वगैरह और दक्षिणके पाटील उसके स्वामी बन जाते है. एवं, जिन बडे शहरोंमें सुधारकी सीमा बढ चली

है वहां गवर्मेंट व म्युनिसिपालटियां उसकी स्वामिनी बनती हैं जहां और भी अधिक सुधार हो रहा है वहां उसके स्वामित्व प्राप्त करनेके लिये आपसमें कलहतक होउठता है. एक कहता है कि इस निधिके भोगनेका मुझे अधिकार न्यायप्राप्त है, दूसरा कहता है, मुझे प्राप्त है ऐसे कलह कभी कभी यहांतक बढ जाते हैं कि सबके स्वामी उदार गवर्न्मेंटको बीचमें पडकर फैसला करना पडता है. यह बात हुई एक व्यवहारसंबंधी उदाहरणकी; पर ठीक यही दशा निर्माल्यकी है.

स्थापनाके प्रारंभसे विसर्जन हुएतक पूजनकी क्रिया समझी जाती है. यदि उस पूजाद्रव्यके साथ भोग्यभोजक संबंध देवका माना जाय तो वह संबंध और वह स्वामित्व विसर्जनके बादमें खतम हो जाता है. और भंडारमें जो वस्तु अर्पण हो चुकी है उसका स्वामित्व उसके विनियोगतक तथा फलभोग तक रहता है.

कुछ लोगोंको यहांपर शंका होगी कि भंडारकी वस्तुओंके समान ही पूजनके द्रव्यका स्वामित्व पूजन होनेके बादमें भी पूर्ववत कायम रहना चाहिये परंतु इसका उत्तर यह है कि पूजन व भंडारक्रियामें एक विशेष अंतर है. वह यह कि जिस प्रकार पूजनकी अंत्यक्रिया विसर्जन है उस प्रकार भंडारमें अर्पण करनेकी क्रिया अंतमें विसर्जनको नहीं दिखाती है इसीलिये पूजनका अर्थ एकवार भोग होना है और भंडार करनेका अर्थ अनेकवार भोगकेलिये रखना है. भोजन व वस्त्रमें जिस प्रकार उपभोग्यता व परिभोग्यताका अंतर है उसी प्रकार ठीक पूजन व भंडारके सामानमें सकृद्भोग्यता व असकृद्भोग्यताका अंतर है. यही बात, पूजनके बाद विसर्जन करने व भंडार करनेके बाद विसर्जन न करनेसे, सिद्ध होती है. इसपर लोग कहेंगे कि विसर्जनका मतलब नहीं है कि अर्पित द्रव्यके साथ का संबंध छूट जाता हो; किंतु पूर्व स्थान पर देवको बैठा देना है. परंतु इस बैठा देनेका ही यह मतलब ठहरता है कि पूजन समाप्त हुआ. अर्थात्, पूजनकी क्रियाका प्रारंभ

आह्वान है और विसर्जन समाप्ति है. पुजनक्रियाका अर्थ जलगंधादिका उपभोग कराना है. जिस प्रकार लाभांतरायके क्षयसे केवलीको जो अनंतभोग होता है उसका साधन कुसुमवृष्टि आदि समझी जाती है; उसी प्रकार जलगंधादि भी उस भोगकी सामग्री है. वह भोग सकृतभोग है इसलिये विसर्जनके बादमें वह भोग्यभोजकक्रिया समाप्त हो जाती है. इसी मतलबके लिये अकलंकदेवने देवद्रव्यके दो भेद किये है; एक निवेद्य, दूसरा अनिवेद्य. यह वचन इस प्रकार है:—

'तद्विस्तारस्तु देवतानिवेद्यग्रहण-प्राणिवधादिः'

इसका अर्थ है कि देवताको निवेदित किया हुवा और निवेदित न किया हुआ ऐसा दो प्रकारका द्रव्य ग्रहण करनेसे दूसरेके दान लाभ भोगोपभोग वीर्यमें विघ्न उपस्थित होता है इसलिये उस द्रव्यको लेनेवाला अंतराय कर्म बांधता है.

जो लोग विघ्नकरण-हेतुकी अपेक्षा न करके ग्रहण करनेमात्रसे अंतरायका बंध हो जाना मानते है उनको तत्त्वार्थसारमें स्पष्ट करके खास बताया है कि.

'प्रमादाद्देवतादत्तनैवेद्यग्रहणं तथा' अर्थात्, प्रमादाचरणपूर्वक-दूसरेको विघ्न उपस्थित हो ऐसी तरहसे देवतादत्त नैवेद्यादिका ग्रहण करे तो अंतरायका कारण हो. अकलंक देवने भी शका दिखाकर यही उत्तर दिया है:—

'अनपदिष्टहेतुकत्वादास्रवानियम इति चेन्न, स्वभावाभिव्यंजकत्वात्'. अर्थात्, आस्रवके जो कारण लिखे उनकेलिये ऐसा कोई हेतु नहीं बताया कि 'इसलिये' अमुक आस्रवमें ये उपर्युक्त नैवेद्य ग्रहणादिक कारण होते हैं; इसलिये इन वचनोंको कैसे माना जाय? इस शंकाका उत्तर देते हैं कि जो हेतु जिस कर्मास्रवकेलिये बताये हैं उन हेतुओंका उन उन बंधनेवाले कर्मोंके साथ समान-स्वभाव मिलता है इसीलिये वे उन आस्रवोंके हेतु होते है. भावार्थ, निर्माल्य ग्रह-

णसे किसीको विघ्न उपस्थित हो तभी यह अंतरायका कारण हो सकता है. अर्थात् ही नियोगी मनुष्यके सिवा यदि कोई दूसरा उस द्रव्यको ले तो नियोगीके लाभमें विघ्न हुआ माना जायगा; न कि, नियोगीको उसका दोष हो सकता है.

हम ऊपर लिख चुके हैं कि निर्माल्य वस्तु स्वतः अपवित्र चीज नहीं है. इसलिये यह समझ भी दूर होनी चाहिये कि जहांपर उस द्रव्यका स्पर्श हो जायगा वही पदार्थ दूषित हो जायगा. परंतु आज-कल समाजमें ऐसी ही समझ निर्माल्यके विषयमें बहुधा होरही है. इसे खानेवाला मनुष्य अभक्ष्यभोजी समझा जाता है. अत एव प्रायः लोग निर्माल्य खानेवालेके हाथका पानीतक नहीं पीते हैं. जब कि निर्माल्यके स्पर्श होनेका भी महा पाप समझते हैं, तो उसका भोजन करना तो अत्यंत अपवित्रताका कारण मानना ही चाहिये. यही कारण है कि, ग्रंथकारोंने इसके भक्षणके विषयमें एक शब्द भी निषेध या विधानका नहीं लिखा, तो भी लोग इसके भक्षणका महापाप समझते हैं और वैसी ही समझमें सिद्धांत-समझ उत्पन्न करनेकी या ऐसी समझ कायम करनेकी कोशिस करते हैं. ऐसी समझ कुछ साधारण लोगोंकी ही नहीं है किंतु अच्छे समझदार कहानेवालोंकी भी यही समझ होरही है.

सोलापुरके श्रीमान् शेठ हिराचंद नेमचंद तो इसका ऐसा पीछा कर रहे हैं कि जब ग्रंथोंमें भक्षणके निषधका कोई एक शब्द भी कहीं-पर न मिला तब सचित्तत्याग प्रतिमाके विषयमें कार्तिकेयानुप्रेक्षामेंके एक भक्षणनिषेध करनेवाले श्लोकको निर्माल्य भक्षणके निषेध करनेमें जोडकर उसके भक्षणके निषेधको पुष्ट करदिया. वह इस प्रकार कि, प्रथम तो अमृतचंद्रादि आचार्योंके वचन ग्रहण करनेके निषेधपरक उद्धृत किये और बादमें ग्रहणका निषेध करते करते भक्षण-संबंधी का० अ० की गाथा उठाकर रखदी. और उसका अर्थ ऐसा सर्वनामके सामान्य शब्दोंका प्रयोग करके लिखा कि बांचनेवाला यदि

मूल ग्रंथको न देखे तो जरूर ही मानने लगे. वह इस प्रकार है:—

" जो णय भक्खेदि सयं तस्स ण अण्णस्स जुज्जदे दादुं ।
भुत्तस्स भोजितस्स हि णत्थि विसेसो सदो कोवि ॥७९॥

सेठजी इसका अर्थ करते हैं कि " जो जिसका स्वतः भक्षण नहीं करता वह उसे दूसरेको भी न दे. क्योंकि स्वतः खाना व दुसरे-को खानेके लिये देना इसमें कुछ फरक नहीं है. कृतकारित एकसेही होते है. " यह हुआ सेठजीका अर्थ. अब इसकी असली संस्कृत टीका देखिये:—

च पुनः स्वयं आत्मना यः सचित्तं जलफलदलमूलकिसल-यबीजादिकं न भक्षयति न अत्ति । यतः यस्मात्कारणात् स्वयं भुक्तस्य स्वयं सचित्तादिकं भोजनं कुर्वतः सचित्तादिकं भोजयि-ष्यतः परान् भोजनं कारयिष्यतः सतः अन्यान् हि स्फुटं कोपि विशेषो न उभयत्र सदोषत्वात् ॥

अर्थः—जो स्वयं सचित्त—जल फल दल मूल किसलय बीज आदि भक्षण नहीं करता उसे चाहिये कि दूसरेको भी सचित्त न दे. क्योंकि स्वयं सचित्तका खाना क्या और दुसरेको खिलाना क्या, दोनोंमें कुछ फरक नहीं है.

इस प्रकार टीकाकार इतने विस्तारसे सचित्तके अभिप्रायको खु-लासा अनेक शब्द देकर कर रहे हैं और हिंदी भाषामें जो अर्थ प्रसिद्ध हुआ है उसमें भी सचित्तका ही उल्लेख है. सेठजीने भी यह सब देखा न होगा यह बात नामुमकिन है. परंतु सचित्तके कुछ शब्दोंको उडाकर ' जो खावे नहीं वह दे भी नहीं ' इस प्रकार ' जिस उस ' शब्दोंका प्रयोग करके प्रकरणके रहस्यको छिपा दिया और लोगोंके मनपर निर्मा-ल्यकी अभक्ष्यताकी छाप बैठाल दी.

अब हम यह दिखाते हैं कि भक्षण व ग्रहणमें क्या मतलबका फर्क है. जहां जहा भक्षणका निषेध आता है वहां वहां या तो प्राण

संयमकी रक्षाका हेतु रहता है, नहीं तो इंद्रियसंयमकी अपेक्षा होती है. और इन दोनोंका फल एक ही है. वह यह कि चाहें प्राणसंयमकी मुख्यतासे भक्षणको छोडा हो और चाहे इंद्रियसंयमकी इच्छासे, परंतु उन दोनोंका फल चारित्रमोहकी निर्जरा या संवर होना है. यहांपर जो ग्रंथकार निर्माल्य ग्रहणका फल दिखाते हैं वह अंतरायकर्मका आस्रव होना है और उसका हेतु विघ्न करना है. भक्षणका हेतु असयंमरूप परिणाम है. इस प्रकार भक्षण व ग्रहणके अर्थमें स्वरूपसे भी भेद है, फलसे भी भेद है और हेतुसे भी भेद है. तो भी न मालूम, सचित्तके भक्षणनिषेधकी एक अप्रकृत गाथाको निर्माल्यके अप्रकृत विषयमें सेठजीने क्यों जोडदिया ? कुछभी हो, उनका वे ही जानें, परंतु लोगोंकी ऐसी समझ होनेका तात्पर्य इतना ही है कि सर्व सामान्य इस निर्माल्यको अपवित्र समझ रहे हैं और समझदार लोग इसी अभिप्रायके फेकानेमें अपने प्रयत्नकी सीमा देखा करते है.

वास्तविक ' निर्माल्य ' शब्दका अर्थ निर्मल है. यद्यपि ' निर्मलस्य भावो नैर्मल्यं ' ऐसा निर्मल अर्थमें शब्द बनता है परंतु इस विशिष्ट प्रकारके निर्मलपनेके अर्थमें निर्माल्य शब्द बन जाता है. विशिष्ट प्रकारकी निर्मलता यहां इसलिये है कि देवाधिदेवको वह द्रव्य अर्पित हो चुका है. इस विशेष दशाका अभिप्राय प्रागट करनेकेलिये इस अर्थमें निर्माल्य–शब्दका प्रयोग लोगरूढ हो रहा है.

जो लोगोंकी ऐसी समझ होरही है कि निर्माल्य ग्रहण करना महापाप है, इसकेलिये एक दुसरा भी प्रमाण बोला करते हैं. वह यह कि पद्मपुराण ग्रंथमें सीताको जब वनमें छोडनेकेलिये कृतांतवक्त्र नामका सेनापति रामचंद्रने भेजा है तब सीताको छोडनेका कार्य अनुचित समझते हुए भी उसे छोडना तो पडा परंतु भृत्यकर्मकी निंदा उसके मुखसे कहलाई है; उस समय निर्माल्यकूटकी उपमा देकर भृत्यकी निंदा की गई है.

संस्कारकूटकस्येव पश्चान्निवृत्ततेजसः ।
निर्माल्यवाहिनो धिग् धिग् भृत्यनाम्नोसुधारणम् ॥
श्लोक ४४ पर्व १७

अर्थात, जिसमेंसे तेज नष्ट होगया है ऐसे निर्माल्यकुटके समान भृत्यका जीवन धिकारके योग्य है इससे लोग ऐसा तात्पर्य निकालते हैं कि जब निर्माल्यके संबंधसे कुट निंदित होगया तो जो मनुष्य ग्रहण करेगा वह निंद्य क्यों न होगा ! भावार्थ, निर्माल्यका स्पर्श भी न करना चाहिये. इस प्रकार लोग एक मतलबको कहांतक बादरायण संबंध जोडकर उसे खीचते है और ग्रंथके अर्थका विपर्यास करते हैं यह बात हम आगे दिखाते हैं.

निर्माल्यकूटकी जहां भृत्यको उपमा दी है वहां कूटका विशेषण ' पश्चान्निवृत्ततेजसः ' ऐसा कहा है. इसका अर्थ होता है कि जिसमेंसे कुछ देरीके बाद तेज अर्थात् उष्णता निकल गई है. इसका तात्पर्य यह है कि पूजनके अंतमें जिन अनेक द्रव्योंसे अग्निकुंडोंमें हवन किया जाता है वे द्रव्य शांतिधारा छोडनेके कारण अंतमें अर्धदग्ध रहजाते हैं और धीरे धीरे उष्णता भी वहांकी कम हो जाती है. उसीका नाम यहांपर निर्माल्यकूट है. वह कूट बादमें अति असुहावना दीखने लगता है क्योंकि, भस्म तथा अर्धदग्ध तेजःशून्य द्रव्य अव्यवस्थित पडे दीखते हैं इसलिये उस दृश्यमें मनोमोहकता कहासे रहसकती है ? दूसरे उस निर्माल्यका स्वरूप चाहे पूर्ववत कायम भी हो परंतु वह निरुपयोगी चीज बन जाती है. जिस प्रकार भृत्यके जीवनमें परावलंबन के कारण निस्सारता रहती है उसी प्रकार निर्माल्य निस्सार वस्तु बनजाता है. यही निर्माल्यमें निंदाका कारण है.

इस लेखपरसे, जो निर्माल्यद्रव्यका विनियोग दूसरेको लेने देनेसे रोककर जलाना पसंत कर हैं वे, यह नतीजा निकाल लेंगे कि अग्निकुंडोंमें निर्माल्य द्रव्य पहिले भी जलाया जाता था. परंतु हम प्रथम अंकमें

पूजनके विषयमें अग्निकुंडोंका तात्पर्यार्थ व उपयोग लिखचुके है. उसपरसे मतलव यह सिद्ध होता है कि अर्हत्पूजन करने के बाद हवन–क्रिया जुदी की जाती है. उस समयकी अपेक्षासे उसका नाम निर्माल्य कूट कहा है.

पद्मपुराणमें जिस निर्माल्यकूटका जिक्र आया है उसका नाम वहां संस्कारकूट लिखा है और निर्माल्य धारण करना उसका विशेषण लिखा है. उसका तात्पर्य यह है कि संस्कारकर्म करनेकेलिये एक ऊंची वेदी बनाई जाती है और उसी जगह कुंडत्रय किये जाते हैं; जिनमें कि अर्हत्पूजनके बाद हव्य सामग्रीकी आहुति दे देकर गर्भजन्मादि संबंधी संस्कार किये जाते हैं. उसी स्थानपर हव्यादि द्रव्य फेंक जानेसे और हवनका भस्मादिसमूह पिंडके रूपमें दीख पडनेसे उस सर्व समूहका नाम संस्कारकूट है. जिसमेंसे धीरे धीरे तेजःप्रकाश निकल गया है और जिस उपभोगकेलिये वह सामग्री लाई गईथी वह सब उपभोग जिसका होचुका है, उत्सवकर्ता समाजकी दृष्टिमें निरुपयोगी हुए उस निर्माल्य द्रव्यके धारक कूटकी तरफ समाजकी न्यक्कारकी भावना उत्पन्न होना ग्रंथकारने दिखाया है. सो ठीक ही है, नाच तमासा उठ जानेपर उस जगहका दृश्य फीका दीखने लगता है सर्व-सामान्य समाजको वह यद्यपि फीका दीखने लागता है परतु वहांकी मालिकी रखनेवालेको वह बादमें भी रौनकदार और उपयोगी जानपडता है.

उदाहरणार्थ, मेला उत्सव उठ जानेपर जगहमें कूडेके ढेर लगते हैं; टूटे फूटे सामान पडे रह जाते हैं. ये सब जीचें सर्व सामान्य लोगोंको तथा खुद उन चीजोंके मालिकोंको निरुपयोगी व असहावनी दीखने लगती हैं. परतु म्युनिसिपल कमेटी या जो कोई उसका हकदार है उसे वह सर्व बहुमूल्य व सार्थक दीखता है और उससे हजारों लाखों रु० का लाभ होता है. यदि कोई उसके हकदारकेलिये भी उसे

निरुपयोगी कहे तो वह प्राकृतिक ज्ञानसे शून्य समझा जाता है.

सेठजी म्युनिसिपल कमिटीके बहुत दिनतक चेअरमेन रहे हैं और ऑ० मॅजिष्ट्रेट अब भी हैं. इधर जैन शास्त्रोंके रहस्यको अच्छा जानते हैं; जैन स्याद्वादके दृढ विश्वासी है; परंतु न मालूम. निर्माल्य-की ही अग्राह्यतामें क्यों स्याद्वादकी योजना नहीं करते और क्यों सर्वथा उसे अग्राह्य मान रहे हैं? कुछ भी हो, परंतु प्राकृतिक हेयादेयकी ही भांत ठीक निर्माल्यकी व्यवस्था रहनी चाहिये; वह हमारी समझ वस्तुस्थितिके अनुसार है.

राजवार्तिकमें जो 'देवतानिवेद्यानिवेद्य' ऐसा शब्द लिखा है उसका यह तात्पर्य है कि देवसंबंधी द्रव्य दो प्रकारका होसकता है; एक वह जो कि पूजन करनेमें अर्पण किया जाता है; दुसरा वह कि जिसका पूजन करनेमें समर्पण नहीं किया जाता परंतु देवस्थानकी रक्षा करनेकेलिये दिया जाता है और उसके खर्चेसे पूजनीय द्रव्यकी व्यवस्था हुआ करती है उदाहरणार्थ—

खेतका देवके नाम पट्टा करादेना, गांव घर देदेना, जिसकी कि आमदनीमेंसे देवस्थानकी व्यवस्था व पूजनकी व्यवस्था निर्बाध चलती रहे. इसी बातको जिनसेन स्वामीने अपने आदि पुराणके ३८ वें पर्वमें लिखा है कि—

शासनीकृत्य दानं च ग्रामादीनां सदार्चनं ॥२८॥

अर्थात्, गांव खेत वगैरह देवस्थानके लिये देदेना, एक प्रकारकी नित्यपूजा है; क्योंकि, पूजनका प्रबंध ऐसा करनेसे, चिरकालतक पूजन व देवस्थानकी व्यवस्था चलती रहसकती है. इस प्रकार कार्यकारण या निमित्तनैमित्तिक संबंधका अर्थ मनमें रखनेसे उन खेत वगैरह द्रव्योंको पूजादानादिद्रव्य कह सकते हैं. और यही अभिप्राय भगवत्कुंदकुंदके उपर्युक्त वचनका होता है जो कि 'पूजादाणाइदव्वहरो' ऐसा कहा है.

अज्ञान व कषायवश आजकल सामाजिक व्यवस्था उलटी होरही

है. जो पंचोंके स्वाधीन देवद्रव्य रहता है; जिसकी कि रक्षा करना व वृद्धि करते रहना पंचोंका कर्तव्य होना चाहिये; जिसकी व्यवस्थाके लिये कि भगवत्कुंदकुंद व अकलंक देव सरीखे आचार्य यों कहते है कि जो इस द्रव्यमें गडबड करता है वह अंतराय महा पापकर्मका भागी होता है और दुर्गति भोगता है; उस द्रव्यकी आजकल इतनी दुर्व्य-वस्था होरही है कि जहा देखो वहां यह शिकायत है ही.

देवके सामने भक्तपूर्वक थोडेसे फल नैवेद्य आदि जो त्याग दिये जाते है फिर वे कभी वैसे उपयोगमे नहीं आसकते. इसलिये उन द्रव्यसे फिर आगामी देवस्थानकी किसी प्रकारकी रक्षा होनेकी संभावना भी नहीं रहती; प्रत्युतः उस स्थानसे हटाकर कही डालना ही पडता है. और वहांसे वह हटाना जरूरी भी होता है; क्योंकि, वह द्रव्य कूडे कचडेके तुल्य समझा जाता है; जैसी कि पद्मपुराणमें उस निर्माल्यकूटकी निंदा की है. उस तुच्छ द्रव्यके पीछे तो लोग हाथ धोकर पडे हैं कि उसकी व्यवस्था नई तरहसे करें; परंतु जो पूजाद्रव्य महत्वका है, और जिसकी रक्षा करना समाजका कर्तव्य है उसकी तरफ दुर्लक्ष्यही होरहा है

जो मनुष्य निर्माल्य ग्रहण करता है उसके हाथका तो समाजमें पानी पीना भी अनुचित समझते हैं. परंतु जिन पंचोंके यहां हजारों लाखोंकी संख्यामें देवद्रव्य बेहिसाब पडा रहता है उन पंच मुखियोंके घर भोजन करनेमें लोगोंको संकोच नहीं होता समाजके ऱ्हासका कारण निर्माल्यस्पर्श नहीं है किंतु उक्त संपत्तिका हजम करना है क्योंकि, एकके यहां हजम हुई संपत्तिका अपराध रोटी बेटीके नातेसे समाज-भरमें फैल जाता है.

कुछ लोग निर्माल्य ग्रहण करनेवालोंकी दारिद्रताको निर्माल्यके कारण बताते हैं उन्हें सोचना चाहिये कि निर्माल्यका इतना मिलना ही असंभव होरहा है कि जिससें उदरपूर्ति भी होसके, तो भी जो वर्ग देवसेवाके नियोगमें पूर्वागत अभी कायम है. उससे जैनधर्मकी रक्षाका

एक अंग कुछ अंशोंमें निरवच्छिन्न है और उस वर्गके लिये इस वृत्तिका न छोडना भूषणावह है. परंतु लोग उस वर्गकी श्रेष्ठताका विचार तो बाजूमें रख देते हैं और उसकी दरिद्रता—दोषके कारण निंदा करते हैं तथा निर्माल्यके संबंधसे अस्पृश्य बताकर समाजमेंसे जुदा करना चाहते हैं समाजके उन सुधारकोंकी और हितचिंतकोंकी बुद्धिपर यह बलिहारी है.

क्या ऐसी निंदा और दूर दूर करते रहनेसे वह वर्ग चिरकाल-तक इस देवसेवा वृत्तिमें कायम रहेगा? यदि न रहा तो शेष समाजके हाथसे आज क्या देवसेवाकी क्रिया होरही है जो कि आगे आशा की जाय? यदि नियत वर्गसे ही काम नहीं होसका तो उस कर्मकेलिये अनियत समाज क्या उसकी क्षतिको पूरा करेगा? निर्माल्यके निषेधक लोगोंकी कल्पना यहांतक बढी है कि यदि निर्माल्य चढेगा ही नहीं तो खाकर पातकी बननेकी वारी ही न आवेगी इसीलिये.

'मेवा मिष्टान्न ताहि मक्खी हू जुठारि जात,' वगैरह वगैरह 'ताते महाराज मेरी सूखी नमस्कार.' यह दशा होचली है. इसका परिणाम यह होगा कि नियोगी वर्ग कुछ न मिलनेपर नष्ट हो जायगा और देवपूजाका कर्म दुर्दशामें आपहुंचेगा. भंडारोंमें दिये हुए धनकी इधर पंच गडबड करेंगे उधर समाजहितचिंतक लोग इसका दुरुपयोग दिखावेंगे. अंततो गत्वा समाज इस कर्मसे उपेक्षित हो बैठेगा.

अब हम यह देखना चाहते हैं कि निर्माल्योपजीवी वर्गकी हम कहांतक योग्यता समझें. एक हिंदी भाषामें कहावत है कि 'जिसके हाथ कोई, उसके हाथ सब कोई' अर्थात् प्राकृतिक लोगोंमें यह व्यवहार देखनेमें आता है कि जो किसीके उदरभरणका कारण होता है वह अपनेको उदर भरनेवालेसे श्रेष्ठ समझता है. वह मानता है कि मेरे सहारे इसका उदरनिर्वाह होता है. यों तो ऐसी घमंड तुच्छके प्रति भी न करनी चाहिये; क्योंकि, किसीके भी हाथ वास्तविक है क्या? परंतु श्रेष्ठके प्रति तो यह व्यवहार सर्वथा वर्ज्य रहना चाहिये.

उदाहरणार्थ, साधु, त्यागी, तपस्वी भी गृहस्थके यहांसे ही भोजन करते है; परंतु एतावता गृहस्थ श्रेष्ठ नहीं होजाता किंतु श्रेष्ठ वे ही रहते है. इसी प्रकार गृहस्थोंमें भी तरतम भाव रहता ही है. विद्यागुरुका उपजीवन शिष्य करते हैं परंतु पुज्यपाद गुरु ही रहता हैं; शिष्य नहीं हो जाते.

एक श्रीमत साथमेंके अपने उपाध्यायकी परवाह न करके, जहां जाना था वहांके लिये, आप तो गाडीमें बैठकर निकला और उसका अध्यापक गुरु पांव पांव चलने लगा. उस समय एक समंजस सच्चरित्र मनुष्यने उस श्रीमंतको उलाहना दिया कि 'स्वयं हि रथेन गच्छति, उपाध्यायं पदातिं गमयति.' अर्थात्, रे, तू आप तो रथमें चढकर चल रहा है और अपने उपाध्यायको पांवों चला रहा है. ऐसा व्यवहार करनेवालोंका पहिला भी अभाव नहीं था परंतु आज उसकी सीमा बहुत ही बढरही है. यदि दूसरा उपाध्याय उससे अच्छा न मिलता दीखा तो उस पहिलेकी तनख्वाह दशकी जगह बारह करदी जाती है; परंतु उपाध्याय ऊपर वह, बडाभारी अहसान दिखाकर.

इधर उपाध्यय भी अहसान कबूल करता है. अर्थात्, उसे भी यही मांन हो चला है कि मेरे अन्नदाता शेठजी ही है. इस प्रकार किसी एककी तरफही चूक नहीं है किंतु दोनो ही अपने कर्तव्यसे पराङ्मुख होते जारहे है यदि उपाध्याय पराधीन निष्कर्मा न बने तो शिष्य या शेठजीकी क्या बिसाद है कि उसे तुच्छ देखें. एवं, यदि शेठजी अपने कर्तव्यके मदमें चूर न हुए हों तो क्यों संभव है कि उस माष्टरका दर्जा हीन सिद्ध हो. पहिलें भी 'द्रव्येषु सर्वे वशाः' यह कहावत प्रचलित थी परंतु जो पहिले मूर्खताकी थी वह आज बुद्धिमत्ता समझी जाती है. यही कारण है कि द्रव्यके भरभराटमें गुण छिपते जारहे है.

हिंदीकी एक कहावत है कि 'गुण ना हिरानो, गुणगाहक

हिरानो है.' हिंदुस्थान देशभरमें धर्मकी बावत क्या और राष्ट्रीय बावत क्या, सर्वत्र यही दशा होरही है. और यही दशा देशके राष्ट्रीय धार्मिक अभ्युदयकी घातक है ठीक ही है, जब कि द्रव्यके कारण ही कीमत ठहरेगी तो गुणोंका विकाश होगा कैसे?

इसके विरोधी लोक यहां यह सवाल करेंगे कि यदि कोई मनुष्य नामसे उपाध्याय होगया हो परतु अपनेसे श्रेष्ठ अपनेको न जॅचता हो तो उसका सीमासे अधिक आदर ही क्यों किया जाय? इसके उत्तरमें हम पूछते हैं कि जिसमें वास्तविक योग्यता है वह तो शिष्योंको बलात्कार नमा लेगा, परंतु अपने स्थितीकरण धर्मका उपयोग कहांपर होगा? स्थितीकरणका यही मतलब है कि कर्तव्यके नियोगी मनुष्य व्यक्तिको अथवा वर्ग–समूहको कर्तव्यके योग्य न रहते हुए भी उसको उसके कर्तव्यकी प्रशंसा करके उसे कर्तव्यमें दृढ किया जाय. इसके लिये प्रोत्साहन देनेका सर्व सामान्य मार्ग यही होसकता है कि उसका उस कर्तव्यकेलिये आदर किया जाय. धर्मके अनेक क्षयोन्मुखी अंगोंमेंसे ही एक अंग उपाध्याय वर्ग है. गृहस्थीके धर्मोंके साधक नियोगी वर्गोंमेंसे अनेकोंका नाश होगया परंतु यह उपाध्याय वर्ग जीवित है.

उसकी लोग निर्माल्यजीवी कहकर अवहेलना करते है उत्तर प्रांतसे यह अवहेलना सुरू हुई और सर्व सामान्य लोग इसी विचारके बनजानेसे निर्माल्यजीवी वर्ग रहा ही नहीं. दक्षिणमें यह उत्तरकी देखादेखी अवहेलना सुरू हुई है. उसका भी परिणाम यह होचला है कि उपाध्याय वर्गके कुछ लोग देवपूजन करनेसे घृणा करने लग हैं और अपनी उन्नतिके लिये आनुवंशिक कर्मको छोडकर वैद्यक व्यापार आदिके व्यवसायोंमें लग रहे हैं. और समाजमें उनकी प्रतिष्ठा बढाकर शेष वर्गको भी देवसेवाके कर्मसे पराङ्मुख करडालनेके लिये कुछ इने गिने लोगोंसे लोग ऐसी प्रतिज्ञाएं कराकरोंकर पत्रोंमें प्रसिद्ध कर रहे है कि 'हमने निर्माल्य खाना छोडा.' हम नहीं समझते कि ऐसी प्रतिज्ञा

करने करानेवाले क्या दूसरा काम समझते हैं. हां इस परसे, उपाध्याय वर्ग कुछ कालमें सर्वथा अपने कर्मसे पराङ्मुख हो जायगा जिससे कि देवपूजा कर्म नियोगशून्य होकर दुर्दशामें पहुंच जायगा, यह दीखता है.

इसी प्रकार 'धर्माश्रित आजीविका करे वह पापी' इत्यादि अभिप्रायके उपदेशोंको ठसा ठसा कर धर्मके व्यवहारका अज्ञ मनुष्योंने कंठगत प्राण कर दिया. हमारा यह कहना नहीं है कि ये सिद्धांत असत्य हैं. परंतु नय योजनाके विना एकांत का प्रकोप बढ़जानेसे धार्मिक व्यवहार लुप्तप्राय हो चला है इस समर्थनमें हम एक ही बातकी याद दिला देते है कि

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते ।
नाशयति चरणकरणं स बहिःकरणालसो बालः ॥ (अमृतचंद्र)

यहां यह विचारणीय है कि कदाचित् धर्मके किसी साधकको स्वोचित न भी समझा हो तो भी उसके कर्मका या उसका उच्छेद करनेकी तजवीज सोचना भी तो महापाप है. क्योंकि, ऐसा करनेसे धर्मांगोंका ह्रास होता है. इसके बाबत समाधानकारक आशाधरका एक वचन है:—

उच्चावचजनप्रायः समयोयं जिनेशिनाम् ।
नैकस्मिन् पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालयः ॥

अर्थात्, ऊंचे नीचे सभी प्रकारके मनुष्य मिलनेसे जिनेश भगवान्का यह शासन जीवित अवस्थामें मौजूद है. ऊंचेसे ऊंचे सर्वथा निर्दोष किसी एकाध मनुष्यको ही यदि जैनधर्मी माना जाय तो क्या जैन शासनकी जीवित दशा ठहरसकती है? क्या किसी मकानकी रचना या स्थिति एक ही खंभ या दीवारपर होसकती है?

भावार्थः—धर्मको जीवित रखना है तो समेट करनेकी बुद्धि रक्खो. नास्तिकता पूर्ण विधर्मीयों परदेशियोंके आक्रमणोंसे ही एक दो

धर्ममें फूट बढरही है; दूसरें, हम खुद भी यदि धर्मांगोंके सुधारक बन-कर उच्छेद करेंगे तो धर्म कहांपर टिकेगा ?

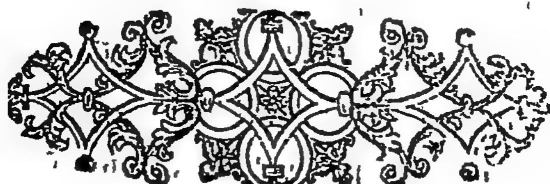
इसके सिवा एक यह बात भी विचारणीय है कि निर्माल्यके ग्रहणका भयंकर पाप समझकर जो लोग उसकी सत्तातक इसलिये शेष करनेके प्रयत्नमें लग रहे हैं कि न निर्माल्य बचेगा और न लोग उसे लेकर पापी बनेंगे—'न रहेगा बांस, न बजेगी बांसरी।' उन्हें यह भी सोचना चाहिये कि 'वृत्तिलोप' या वृत्तिच्छेद नामका भी एक भयंकर पाप है. जहांपर निर्माल्य ग्रहणका निषेध किया है वहांपर वार्तिककारने वृत्तिलोप करनेका भयंकर पाप वर्णन किया है. जो निर्माल्यजीवी वर्ग है उसका, क्या निर्माल्य जलाकर भस्मरूप कर देनेसे, आजीविका संबंधी बडा साधन नष्ट न होगा जिससे कि वृत्तिलोपका पाप लगता है.

यहांपर प्रश्न यह उपस्थित होगा कि वृत्तिलोप व निर्माल्य ग्रहण इन दोनोंमेंसे अधिक पापकर्म कौनसा है ? इसका उत्तर हमारे ऊपरके विवेचनसे होजाता है. लोग यह समझेंगे कि वृत्तिलोपका पाप बचावें तो निर्माल्य ग्रहणका पाप बच नहीं पाता. यदि निर्माल्य छुडावें तो वृत्तिलोपका पाप सिरपर आजाता है. अर्थात्, दोनो पाप बचानेका प्रयत्न एकदम नहीं होसकता है. परंतु यह समझ ही भूलकी है कैसे ?

हम ऊपर बताचुके हैं कि जो वर्ग देवसेवाका काम करके उसके बदले निर्माल्य ग्रहण कर रहा है और उसीपर उसकी वृत्ति निर्भर है उसके सिवा जो शेष बहुभाग पूजक वर्ग है उसीको निर्माल्य ग्रहण करनेका दोष लगसकता है. यदि यह प्रसंगोपात्त अर्थ ठीक हो तो वृत्तिलोप तथा निर्माल्य ग्रहण ये दोनो पापकर्म गृहस्थके हाथसे बचसकते हैं और दोनो पापोंका टालना परस्पर अविरोधी होजाता है.

यहांपर, वस्तुपरिस्थिति व वाक्यार्थ निर्णयके लिये एक और भी उपयोगी उदाहरण देखियेः—

यह सिद्धांतसंमत है कि कालद्रव्यके निमित्त विना कोई भी पर्याय नहीं होता. परंतु कालके पर्याय होनेमें क्या दूसरा कोई काल कल्पित करना चाहिये? यदि कल्पना करें तो अनवस्था दोष आता है और यदि न करें तो काल निमित्तके विना पर्याय न होनेका वचन दूषित होता है अथवा काल कूटस्थ नित्य ठहरता है; जो कि द्रव्यस्वभावके विरुद्ध है. इस आक्षेपका निरसन इस प्रकार किया है कि इतर प्रत्येक द्रव्यके परिणमानेमें जो उससे इतर द्रव्यकी अपेक्षा पडती है वह अपेक्षा अपनेको परिणमाते समय नहीं पडती; क्योंकि, जिस शक्तिका उपयोग इतरके परिणमनमें निमित्त रूप होता है वह जब अपनेमें साक्षात् विद्यमान हो तो दूसरी जगहसे वह पूर्ण क्यौंकी जाय? निर्माल्यका निषेध देखते समय इस दृष्टांतका उपयोग इतनामात्र करना चाहिये कि निषेध या विधान सार्वदेशिक नहीं होता. 'शुद्धे वस्तुनि संकल्पः कन्याजन इवोचितः' इस सोमदेवके वचनका अर्थ यह है कि कन्या ग्राह्य है. पर क्या, जिसकी वह कन्या है उसको भी? इसका उत्तर 'नहीं' ही होगा. इसी प्रकार निषेध सर्वत्र निषेध ही नहीं होता. प्रत्येक उपदेशकेलिये पात्रका भेद करना आवश्यकीय है. अत एव, लोग जो यहांतक मानरहे है कि कीडीतक यदि निर्माल्य खाले तो वह भी नरकादिके पाप संचित करे, यह समझ वस्तुस्थितिके विरुद्ध है. इसलिये उसका निषेध केवल पूजककेलिये ही सार्थक है.



निर्माल्य द्रव्य-चर्चा।

जैन सिद्धांत मासिक पुस्तक वीर सं० २४४६ के भाद्रपद्र मासके अंकमें (ई० सन् १९२०) 'निर्माल्य विनियोग' इस शीर्षकका एक लेख न्यायतीर्थ पंडित बनसीधरजीने दिया है। उसमें निर्माल्य द्रव्य ग्रहण करनेके दोष भगवत् भट्टाकलंक और अमृतचंद्र सूरि और सकल-कीर्ति आचार्यने जो बताये हैं सो सब मान्य किये हैं। लेकिन जो मनुष्य किसी कामके बदलेमें निर्माल्य लेता है उसको दोष नहीं है यह ही केवल उस द्रव्यकी न्यायोपार्जयिता है। अर्थात् पुजारी—उपाध्याय इन लोगोंको निर्माल्य ग्रहण करनेका हक है! और उस हकको जो कोई बाधा करते हैं उनको अंतरायकर्मका आस्रव होता है ऐसा लिखा है।

पंडितजी ऐसा भी सिद्ध करना चाहते हैं कि पूजन करनेवालेने अपने पूजनकी समाप्ति किये बाद उनका उस निर्माल्य द्रव्यपर कोई हक नहीं।

पत्र दोमें पंडितजीने लिखा है—" अर्पण करके स्वयं जो ग्रहण करता है उसके परिणाममें स्वत्व निवृत्तिरूप भाव उत्पन्न नहीं हो पाता है। एवं जो दूसरा कोई ग्रहण करना चाहता है उसके परिणामोंमें न्यायोपार्जनकी बुद्धि नहीं रहती है, क्योंकि—किसी कामके बदलेमें जो किसी एक चीजका ग्रहण करना है उसका नाम न्यायोपार्जन है।"

इससे यह सिद्ध हुवा कि—उस निर्माल्य द्रव्यपर अर्पण करने-वालेका कुछ हक नहीं रहा। अब निर्माल्य हुआ द्रव्य देवके स्वामित्वका होता है या नहीं इस प्रश्नके ऊपर पंडितजी लिखते हैं कि—"स्थापनाके प्रारम्भसे विसर्जन हुवे तक पूजाकी क्रिया समझी जाती है। यदि उस पूजा द्रव्यके साथ भोग्य भोजक संबंध देवका माना जाय तो वह संबंध और वह स्वामित्व विसर्जनके बादमें खतम हो जाता है।"

इस परसे पंडितजीने ऐसा सिद्ध किया कि उस निर्माल्य द्रव्यका स्वामित्व अरिहंतादि देवोंका भी नहीं रहा। सिर्फ उसका स्वामित्व पुजारी—उपाध्यायका रहा। उस निर्माल्य द्रव्यको पुजारी—उपाध्याय सिवाय दूसरा कोई ग्रहण करेगा तो उसने उपाध्यायकी वृत्तिमें विघ्न डालनेसे उसको अंतराय कर्मके आस्रव होने चाहिये ।

अब विचार करनेकी बात यहांपर ऐसी है कि—जिस निर्माल्यके ऊपर देव गुरु इत्यादिकोंका स्वामित्व नहीं है और सिर्फ पुजारी—उपाध्यायका ही स्वामित्व है। और उन पुजारी—उपाध्यायके सिवाय अन्य कोई उसका ग्रहण करले तो उसको अंतराय कर्मके आस्रव अथवा दुर्गतिका फल जो आचार्योंने बताया है, वे आचार्य अपने वाक्यमें—देवताओंका नैवेद्यादि निर्माल्य ऐसा क्यों लिखते हैं?

देवताओंके एवजमें—" उपाध्याय—पुजारी—निवेद्यानिवेद्य ग्रहणम् " और " प्रमादादुपाध्याय (पुजारी) दत्त नैवेद्यग्रहणं तथा " अथवा " पुजारी-उपाध्यायानां निर्माल्यं स्वीकरोति यः। वंशच्छेद परिप्राप्य स पश्चा- दुर्गतिं व्रजेत् ।। " ऐसा लिख देते थे। लेकिन कोई भी आचार्यने ऐसा लिखा नहीं है। यदि लिखा हुआ पंडितजी के जाननेमें आता था तो पण्डितजी इन वाक्योंको अपने लेखमें जरूर उद्धृत कर देते थे।

लेकिन— " दानभोगोपभोगादि प्रत्यूहाकरणं तथा " इस श्लोकसे पुजारी उपाध्याय ही क्या लेकिन सारी दुनियाभरके प्राणिमात्रके भोगोपभोगलाभादिकमें विघ्न करनेसे अंतराय कर्मके आस्रव होते हैं। ऐसा सिद्ध होता है तो फिर केवल उपाध्याय—पुजारीके निर्माल्य ग्रहणमें विघ्न करनेवालेके वास्ते तत्वार्थसारमें— " प्रमादादेवतादत्त- नैवेद्यग्रहण तथा " ऐसे अलग वाक्य डालनेकी क्या जरूरत थी? इन वाक्योंका संबंध उपाध्यायकी आजीविकासे पण्डितजीने जोडा है सो स्पष्ट बादरायण संबंध दीखता है।

इस परसे निर्माल्य-द्रव्य ऊपर पूजारी-उपाध्यायका स्वामित्व है ऐसा आगमप्रमाणसे पण्डितजीसे सिद्ध होने नहीं पाया। अब युक्ति प्रमाणसे कैसा सिद्ध होता है सो देखेंगे।

पण्डितजी कहते हैं कि- " अर्पित द्रव्यको ग्रहण करनेके नियोगी मनुष्य प्राचीन समयमें भी थे जैसे कि आजकल हैं। अर्थात् उस द्रव्यको लेनेका उन्हें जिसे अधिकार नहीं है। यही बात निर्माल्य द्रव्यके ग्रहणके निषेधसे दिखाई गई है। "

प्राचीन समय, भगवान् वृषभदेवसे लगाकर अंतिम तीर्थंकर महावीर तकका गिना जाता है। तो इस प्राचीन समयमें निर्माल्य ग्रहण करनेवाले कौन कौन थे उनका वर्णन किस पुराणमें है वह पंडितजीको बतलाना चाहिये था। यदि उस प्राचीन समयके पुराणोंमें नहीं मिलता होगा तो किस प्राचीन समयमें-कहांसे कहांतक-ऐसे नियोगी मनुष्यका वर्णन पाया जाता है सो लिखना चाहिये था।

नियोगी मनुष्यका अर्थ पंडितजीके अभिप्रायसे-जो देवकी सेवा करता है सो नियोगी मनुष्य ऐसा होता है।

देवकी सेवा अनेक मनुष्य अनेक प्रकारसे करते हैं जैसे-कोई मंदिरमें झाड़ बुहारी देता है, कोई प्रक्षाल करता है, कोई पूजन करता है, कोई अभिषेक करता है, कोई दीपावत्ती करता है; कोई भक्तामर सुनाता है, कोई सूत्रजीका पाठ सुनाता है, कोई शास्त्र सुनाता है, भोजक गन्धर्व भजन गाते हैं, कोई चौघड़ा बजाता है; जैसा कि भूपाल स्तोत्रमें लिखा है—

" देवेंद्रास्तव मज्जनानि विदधुर्देवांगना मंगला-
न्या पेठुः शरदिंदुनिर्मलयशो गंधर्वदेवा जगुः ॥
शेषाश्चापि यथा नियोगमखिलाः सेवां सुराश्चक्रिरे
तत्किं देव वयं विदध्म इति नश्चित्तं तु दोलायते ॥२१॥ "

अर्थात्—भगवान्का देवेंद्रोंने अभिषेक किया (जन्म कल्याणिक

अभिषेक किया), देवांगनाओंने कल्याणकारक गीत गाये, गंधर्वोंने शरद् ऋतुमेंसे चंद्रके माफक निर्मल–शुद्ध ऐसे तुम्हारे यशोंका वर्णन किया, और शेष सब देवोंने अपने अपने अधिकारके माफक सेवा की। हे भगवान्! अब हम क्या करें ऐसे विचारसे हमारा चित्त आंदोलन पाता है।

ऐसे कई प्रकारकी सेवा कई मनुष्य करते हुये देखनेमें आते हैं उसमेंसे पण्डितजी किसको नियोगी ठहराना चाहते हैं? यदि फक्त पूजारी–उपाध्यायको ही नियोगी कहेंगे तो उसको आगम प्रमाण क्या है और वह कबसे नियोगी बना? और उसको किसने नियोगी नियत किया इसका भी कुछ सबूत चाहिये।

क्या श्री ऋषभदेव महात्मने अथवा श्री वर्धमान तीर्थंकरने अपने केवलज्ञानके समय कह दिया था कि–हमारी पूजन फलाना फलाना पुजारी या उपाध्याय करेगा उसको हमने नियोगी ठहराया है। ऐसा कोई पट्टा या सनद इन उपाध्यायोंके पास मौजुद है ऐसा पंडितजी बता सक्के हैं?

अब कोई गांवमें नया मंदिर बनता है और उसकी प्रतिष्ठा होती है उस समय उसके मालिक उस गांवमेंसे अथवा बाहरगांवमेंसे कोई उपाध्याय–पुजारीको बुलवा लेते हैं और उससे करार करते हैं कि,–इस मंदिरकी पूजा प्रक्षाल करनेका तु कबूल करता है क्या? उसके बदलेमें निर्माल्य द्रव्य–चावल, बादाम तेरेको मिलेंगे। नारियल और पैसा टका जो चढेगा सो हम रख लेंगे उसको बेचकर उन रुपयोंमेंसे तनखा दूसरे सेवा करनेवालेको देंगे तेरेको नहीं देंगे।

फक्त चावल बादामकी निपज उसकी आजीविका पूर्ति हो तो वह कबूल भी कर लेता है। यदि पूर्ति न हो तो दो चार दस रुपया माहेंवारी अधिक मांगता है। करार कुछ मुदत तकका होता है, फिर बदला जाता है। कुछ दिन बाद उसका काम पसंद नहीं पडा तो उसको बदलके

दूसरा भी लाया जाता है। उसके साथ अलग शर्ती बनती है। जैसा पंडितजी पत्र १२ में लिखते हैं दूसरा उपाध्याय भी रखा जाता है। नारियल पैसा टका जो रख लिया जाता है वो वेचकर दूसरे सेवा करनेवाले नियोगियोंको दिया जाता है।

कोई कोई गांवमें दो चार घर जैनियोंके रहते हैं सो एक एक दिन बारीसे भगवानकी पूजा, प्रक्षाल, दीवाबत्ती, झाडू बुहारी, कर लेते हैं; किसी पुजारी उपाध्यायको नियत करते भी नहीं। तो फिर वहांका नियोगी कौन और निर्माल्य किसके हक्कका समझना चाहिये? ?

देवकी सेवा करने वाला नियोगी होता है ऐसा पंडितजी कहते हैं। अब वह दो चार घरवाले जो देवकी सेवा करते हैं तो उन्होंने अपनी सेवाके बदलेमें निर्माल्य द्रव्य ले लेना ऐसा पंडितजीके अभिप्रायसे न्यायोपार्जित हो सक्ता है।

पण्डितजीके घर चैत्यालय है, उसकी पूजा प्रक्षाल, दीवाबत्ती, झाडूबुहारी इत्यादि देवसेवा पंडितजी अपने हाथसे करते हैं। दूसरा कोई नियोगी नही है। जिससे देवसेवा करनेके बदलेमें पंडितजीको ही अपने चैत्यालयका निर्माल्य-द्रव्य ग्रहण करना न्यायोपार्जित समझना पड़ेगा। क्योंकि पण्डितजीने अपने चैत्यालयमें पूजन विसर्जन किये बाद उनका स्वत्व उस निर्माल्य द्रव्य पर कुछ भी नहीं रहा। और भगवानका भोग्य भोजक संबंधका कार्य विसर्जन हुये बाद खतम हुवा तो फिर उस निर्माल्य द्रव्यके ऊपर देवसेवाके बदलेमें पण्डितजीका ही स्वामित्व सिद्ध हो चुका।

यदि वह निर्माल्य द्रव्य आप न ग्रहण करें और अपने चैत्यालयके देवकी सेवा न करनेवालेको देदें तो वह भी पंडितजीके अभिप्रायसे अन्याय है।

इसपरसे मालूम होगा कि—कोई स्वयंसिद्ध हक्कदार नियोगी आदमी नहीं होता है। मंदिरके मालिककी इच्छानुकूल

अन्य नौकर आदमियोंकी माफक यह भी एक नौकर रहता है उसकी निर्माल्य-द्रव्य ग्रहण करनेके बारेमें बराबर शर्तें बदली जाती हैं। तो फिर निर्माल्यका विनियोग करनेका अधिकार मंदिरके मालिकके हाथमें रहा या पुजारी-उपाध्यायके हाथमें रहा ?

यदि मंदिरके मालिकके हाथमें रहा तो फिर उपाध्यायका हक कुछ नही और अंतराय कर्मके आस्रवोंका सम्बंध जैसे पंडितजी मान रहे हैं वैसा बनता ही नही।

इस परसे ऐसा सिद्ध हुवा कि-युक्ति प्रमाणसे भी उपाध्यायका निर्माल्य ग्रहणका हक कुछ भी नहीं।

इस मुजब मंदिरके मालिक और उपाध्याय-पुजारीके दरम्यान निर्माल्य-द्रव्यका विनियोग हो रहा है तो अब शास्त्राज्ञानुकूल अंतराय कर्मके आस्रवका भागी कौन होता है ? और सकलकीर्तिके वाक्यानुसार दुर्गतिको कौन जायगा ? इस पर विचार करनेसे मालूम होता है कि दोनों ही इस पापके अधिकारी हो सक्ते हैं।

मंदिरका मालिक जिसने पूजन करके द्रव्य भगवान्‌को चढाया वह उस निर्माल्य-द्रव्यको ग्रहण कर नहीं सक्ता है, यह बात पंडितजीको मान्य है। अब वो दूसरेको देनेसे कारित नामका पापका भागीदार होता है ऐसा हमने स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाके-“ जो णय भक्खेदि सयं० ” इस गाथासे सिद्ध किया था वह गाथा निर्माल्यके सम्बन्धमें नहीं लग सकती ऐसा पण्डितजी बताते हैं।

लेकिन जो आप ग्रहण करनेमें पाप लिखा है वही पाप अन्यको ग्रहण करानेमें है यह कृतकारितानुमोदनका सम्बन्ध जैन सिद्धांतमें बराबर चला आता है। देखिये, आस्रवके प्रकरणमें एक सूत्र ऐसा है-“ आद्यंसंरंभसमारंभारंभयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ” इस सूत्रकी अनुवृत्ति आगे आनेवाले सभी सूत्रोंपर चली जाती है तो फिर फक्त-“ विघ्नकरणमंतरायस्य ” इस सूत्र पर और इस सूत्रके

वार्तिक—" देवता निवेद्यानिवेद्य ग्रहणम् " इस पर क्यों नहीं चलनी चाहिये ? " संकल्पात्कृत कारित मननाद्योगत्रयस्य चरसत्वान् " और " स्थूलमलीकं न वदति न परान् वादयति" इत्यादि जगह जगह कृत कारितके समान दोषके प्रमाण मिलते हैं।

यदि इस सूत्र या वार्तिक ऊपर उस सूत्रकी अनुवृत्ति नहीं लेनी चाहिये ऐसा सूत्रकार अथवा वार्तिककारका अभिप्राय होता था तो वैसा अपवाद वह लिख देते थे।

निर्माल्य द्रव्य आप न ग्रहण करते दूसरेको देनेमें पातक नहीं ऐसा दृष्टांत सिद्ध करनेके लिये एक सोमदेवसूरिका वाक्य दृष्टांतमें दिया है कि—अपनी कन्या स्वयं भोगते नहीं हैं लेकिन दूसरेको भोगनेको देनी पडती है। यह दृष्टांत विषम है। क्योंकि—एक बक्त अष्टद्रव्य रूपी अपनी कन्या भगवान्को अर्पण कर चुके हैं, और भगवान् भोग्य भोजक संबंधसे उसको भोग चुके हैं, तो फिर वह कन्याका दान दूसरो वक्त कैसा किया जायगा ? और यदि पूजन करनेवालेका निर्माल्य द्रव्य पर हक ही नहीं तो वह दूसरेको कैसा दे सकेगा।

यदि नियोगी मनुष्य फलाना ऐसा निश्चित नहीं हो सक्ता है तो निर्माल्य द्रव्य ग्रहण करनेमें कोई भी मनुष्य न्यायोपार्जित ठहर नहीं सक्ता और निर्माल्य—द्रव्य सबके वास्ते अग्राह्य है यही सिद्धान्त कबूल करना पडेगा। और उस अग्राह्य पदार्थको निर्माल्यकूटमें डालकर भस्म करना पडेगा।

पण्डितजी कहते हैं कि—हवन क्रियामें जो द्रव्य निर्माल्यकूटमें डाला जाता है वह द्रव्य पूजन किये बाद जो बचता है उसको डालना पडता है यह अभिप्राय " तेऽर्हदीज्या शेषांशैराहुतिर्मंत्रपूर्विका " इस वाक्यमें जो "शेष" शब्द पडा है उस परसे निकालते हैं। लेकिन "शेष" शब्दका अर्थ 'पूजन सामग्रीसे बचा हुआ द्रव्य' ऐसा महापुराण कर्ताने

और कोशकारने किया नहीं है। धरसेन मुनिकृत ' विश्वलोचन ' कोशमें "शेषा" शब्दका अर्थ इस मुजब है–" शेषा निर्माल्य भिद्यपि " माने निर्माल्य द्रव्यको " शेषा " ऐसा कहा है। महा पुराणकर्ताने पर्व ४२ में कहा है कि—

" स्वयं महान्वयत्वेन महिम्नि क्षत्रियाः स्थिताः ।
धर्मास्थया न शेषादि ग्राह्यन्तैः परलिंगिनाम् ॥ १८ ॥
तच्छेषादि ग्रहे दोषः कश्चेनाहात्म्यविच्युति ।
अपाया वहवश्चास्मिन् न तस्तत्परिवर्जनम् ॥ १९ ॥
माहात्म्यप्रच्युतिस्तावत्कृत्वाऽन्यस्य शिरोनतिम् ।
ततः शेषाद्युपादाने स्यान्निकृष्टत्वमात्मनः ॥ २० ॥

× × × ×

तच्छेषाशीर्वचः शांति वचनाद्यन्यलिगिनाम् ।
पार्थिवैः परिहर्तव्य भवेन्न्यकुलताऽन्यथा ॥ २३ ॥
जैनास्तु पार्थिवास्तेषामर्हत्पादोपसेविनाम् ।
तच्छेषानुमतिर्न्याय्या ततः पापः क्षयो भवेत् ॥ २४ ॥
रत्नत्रितयमूर्तित्वादादि क्षत्रियवंशजाः ॥
जिनाः सनाभयोऽमीषा मतस्तच्छेषधारणम् ॥ २५ ॥
अथाहिकुलपुत्राणां माल्यं गुरुशिरोधृतम् ॥
मान्यमेवं जिनेन्द्रांघ्रिस्पर्शान्माल्यादि भूषितम् ॥ २६ ॥
कथंमुनिजनादेषां शेषोपादानमित्यपि ॥
नाशंक्यं तत्सजातीयास्ते राजपरमर्षयः ॥ २७ ॥

× × × ×

ततः स्थितमिदं जैनान्मतादन्यमतास्थिताः ॥
क्षत्रियाणां न शेषादि प्रदानेऽधिकृता इति ॥ २९ ॥

अर्थात्–बड़े बडे वंशोंमें उत्पन्न हुये क्षत्रिय लोग अपने आप ही महत्वके–बडप्पनके स्थानपर विद्यमान हैं इस लिये उन्हें अन्यमतियोंके धर्ममें श्रद्धा रख कर उनके दिये हुये शेषा (चढाहुवा अक्षत स्नानोदक

वगैरह) कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये। कदाचित् कोई यह कहे कि उनके शेषा—अक्षतादि—ग्रहण करनेमें क्या दोष है ? उसके लिये कहते हैं कि, उनके शेषादि लेनेमें अपने महत्वका नाश होता है। और अनेक अनिष्ट वा विघ्न आ उपस्थित होते हैं। इस लिये उनके ग्रहण करनेका त्याग कर देना ही चाहिये। अन्य मतवालोंको नमस्कार करनेसे अपने महत्वका नाश होता है, इस लिये अन्यमतके शेषा—स्नानोदक आदि ग्रहण करनेसे अपनी निकृष्टता वा हीनता होती है। + + +

इसलिये राजा लोगोंको अन्य मतवालोंके शेषा, आशीर्वाद, शांतिवचन, शांतिमंत्र और पुण्याहवाचन आदि सबका त्याग कर देना चाहिये, यदि वह इन सबके ग्रहण करनेका त्याग नहीं करेगा तो फिर वह नीच कुलवाला हो जायगा। राजा लोग जैनी होते हैं इसलिये अरहंतदेवके चरण कमलोंकी सेवा करनेवाले उनके अरहंत देवकी शेषा आदिका ग्रहण करना तो न्याय ही है क्योंकि अरहंत देवकी शेषा ग्रहण करनेसे उनके पापका नाश होता है।

श्री जिनेन्द्र देव रत्नत्रयकी मूर्तिरूप होनेसे आदि क्षत्रिय ऐसे श्री वृषभदेवके वंशज हैं। अतएव वे सब (क्षत्रिय और जिनेंद्र) एक ही गोत्रके भाई बंधु हैं। इस लिये क्षत्रियोंको जिनेंद्र देवकी शेषा आदि ग्रहण करना ही चाहिये। जिस प्रकार कुल पुत्रोंको गुरुके मस्तक पर धारण की हुई माला मान्य है उसी प्रकार उन्हें जिनेंद्र देवके चरण कमलोंके स्पर्शसे पवित्र हुई माला आदि भी मान्य समझनी चाहिये। कदाचित् कोई यह कहे कि इन राजाओंको मुनि लोगोंसे शेषा आदिका ग्रहण किस प्रकार करना चाहिये ? परन्तु उनकी यह शंका भी ठीक नहीं है। क्योंकि मुनिराज भी राजऋषि हैं इस लिये वे भी राजाओंके सजातीय हैं। इस लिये यह बात निश्चित हो चुकी कि जो जैनमतसे भिन्न मतवाले लोग हैं उन्हें राजा लोगोंको वा क्षत्रियोंको शेषा आदि देनेका कुछ भी अधिकार नहीं है।"

शेष शब्दका अर्थ अंग्रेजी कोशकारने इस मुजब दिया है–
The remains of offerings made by an idol.

और त्रैवर्णिकाचार पृ० १७७में ग्रंथकारने 'शेषा' धारण करनेका श्लोक लिखा है सो इस मुजब है—

" त्रिः परीत्य जिनाधीशं भक्त्या नत्वा पुनः पुनः ।
जिन श्रीपादपीठस्थां शेषां शिरसि धारयेत् ॥

" अर्थात्–जिनेंद्रको तीन प्रदक्षणा देकर और भक्तिसे बारबार नमस्कार करके जिनेंद्रके श्रीपादपीठस्थ शेषा (गंध, अक्षत, पुष्प आदि पदार्थ) अपने मस्तकपर धारण करें। यदि शेषा शब्दका अर्थ पूजन करके बचा हुवा द्रव्य ऐसा करेंगे तो पूजन पंच परमेष्टीका करते हैं, फिर निर्वाण क्षेत्रोंका करते हैं। अकृत्रिम चैत्यालयोंका करते हैं, ऐसे कोई पूजन करते करते द्रव्य नहीं बचा तो फिर हवन क्रिया बंद करनी पडेगी। क्योंकि नया द्रव्यसे हवन क्रिया करना कहा नहीं।

पण्डितजी कहते हैं पूजन अर हवन दो अलग हैं।

ऐसा–" संध्यास्वग्नित्रये देवपूजने नित्य कर्मणि ।
भवन्त्याहुतिमंत्राश्च त एते विधिसाधिताः ॥७९॥ पर्व ४०

इस श्लोक परसे बताते हैं और इसका अर्थ–"तीनों संध्याओंमें जो जो देव पूजनरूप नित्य कर्मके अंतमें अग्नित्रयमें हवन करना होता है।" ऐसा करते हैं सो 'अन्तमे' यह अर्थ किस शब्दका पंडितजीने किया है सो मालुम नहीं होता है।

पण्डित लालारामजी इस श्लोकका अर्थ इस मुजब करते हैं– "विधि पूर्वक सिद्ध किये हुये ये ही मंत्र प्रातःकाल मध्यान्हकाल और सायंकाल इन तीनों समय तीनों प्रकारकी अग्निमें देव पूजन करते समय और नित्य कर्म करते समय आहुतिमंत्र कहे जाते हैं।"

और पण्डित दौलतरामजीकी बचनिकामें अर्थ इस मुजब है–

" ए मंत्र विधि करि साधे संते तीनूं संध्या देवपूजा विखे तथा नित्य कर्म विषे तीनूं अगनिविषे होमके मंत्र हैं। "

अर पंडित कल्लप्पा निटवे लिखते हैं—" विधि पूर्वक साधिलेले ते हे मंत्र, तिन्ही संध्याच्या समयीं अग्नित्रयाचे ठिकाणीं नित्य कर्म स्वरूप देव पूजनाच्या निमित्ताने आहुति देण्याचे मंत्र हि होतात। "

सो ये तीनों भी विद्वान् पण्डित हैं। इन तीनोंमेंसे किसीने भी इस श्लोकका अर्थ करनेमें ' अंतमें ' यह शब्द नहीं डाला तो फिर पंडित बनसीधरजीने किस हेतुसे डाला है सो मालूम नहीं होता है। कदाचित देव पूजन और नित्य कर्म ये एक नहीं हैं अलग अलग हैं ऐसे बतलानेके लिये डाला हो तो मालूम नहीं लेकिन देव पूजन और नित्य कर्म एक ही है।

ऐसा-" देवपूजा गुरुपास्ति स्वाध्यायः संयमस्तपः ॥
दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ॥ "

इस श्लोकसे देवपूजा और नित्य कर्म एक ही है अलग नहीं है ऐसा सिद्ध होता है।

यहां पर एक दृष्टांत कथारूपमें देते हैं—

एक राजा अपनी कचहरीमें बैठा था उस वक्त एक साहुकार बर्फी, लड्डू, आम, दाडिम, द्राक्ष, संत्रा, केला इत्यादि बहुत बढिया मेवा मिठाई अपने घरसे लेकर राजाको भेट करनेको लाया। राजाके सामने भेट घर दी। और बड़ी नम्रतासे राजाको स्वीकार करनेके वास्ते प्रार्थना की। राजाने बहुत संतुष्ट हो कर स्वीकार करली। साहुकार अपने घर चला गया। राजा भी थोड़ी देर कचहरीमें बैठके जनानखानेमें चला गया। भेटकी थालियां वहां ही रहीं। राजाके नौकर जो राजाको कपड़े पहिनाना, कपड़े उतारना इत्यादि खिदमतगारी करनेवाले वहां खड़े थे, वहां एक वकील साहब भी बैठे थे उनको एक खिदमतगारने पूछा—पंडितजी साहब इस भेटको अब क्या करना चाहिये ? राजा

साहब तो विना कहे चले गये। वकील साहबने कहा कि—साहुकार तो भेट रखकर अपने घर चले गये, जिससे उनका इस भेट पर स्वत्व कुछ नहीं। राजा साहब भी भेटको स्वीकार करके चले गये। तूं राजा साहबका सेवा करनेवाला खिदमदगार है। तेरी सेवाके बदलेमें इस भेटके ऊपर तेरा ही हक है। तू इसको उठा कर अपने घरको ले जा सक्ता है, ऐसा कानून कहता है। उस मुजब वकील साहबकी सलाह सुन कर वह खिदमदगार भेटकी सब थालि उठा कर अपने घर ले चला। रास्तेमें जाते पहेरेवालोंने उसको पकड़ लिया, और न्यायाधीश के पास भेज दिया। न्यायाधीशने उसको पूछा कि—यह राजा साहबको दी हुई भेट राजा साहबको विना पूछे उनके विना हुकुमसे कैसे ले जा सक्ता है? खिदमदगारने कहा—मेरेको यह भेट ले जानेके वास्ते राजा साहबने तो हुक्म नहीं दिया है, राजा साहब तो विना कुछ कहे कचहरीसे चले गये, वकील साहब वहां पर बैठे थे उनके कहनेपर मैं ले चला हूं। यदि कहो तो वकील साहबको यहां लेके आता हूं। न्याया धीशने कहा अच्छा ले आओ उसपर खिदमतगार वकीलको ले आया। न्यायाधीशने वकीलको पूछा—इस खिदमतगारको राजाकी भेट अपने घर ले जानेके वास्ते तुमने कैसी सलाह दी? वकीलने कहा कि—भेट रख जानेवाले रखकर चले गये और राजा साहबने भेट स्वीकार ली और अपनी कचहरीमेंसे निकल गये। जिससे उनका विसर्जन हो चुका। खिद मदगार राजाकी सेवा करनेवाला है उसका ही उस भेट पर स्वामित्व रहा यह बात कानूनसे सिद्ध होती है तो फिर खिदमदगारको ले जानेमें क्या हर्ज है?

न्यायाधीशने कहा—राजाकी चीज राजाके हुक्म विना खिदमदगार लेसक्ता है ऐसा कानून बताते हो तो तुम्हारी भी कोई चीज तुमको विना पूछे तुम्हारा कोई नौकर घर ले जायगा तो तुम चुप बैठोगे? वकीलने

उत्तर दिया—मैं चुप कैसा बैठूंगा ? मैं उसी वख्त उसको जेलखानेमें भेज दूंगा।

न्यायाधीशने कहा—राजाकी चीज भी राजाके हुक्म बिना कोई ले जायगा तो उसको बडी भारी सजा होनी चाहिये। ऐसा सुनकर वकील साहब बोले। खिदमतगार पर भारी आई हुई भेटसे राजी रहता है और अपनी नौकरीके बदलेमें राजा साहबसे तनखा नहीं मांगता है इससे राजा साहबका दस बीस रुपया माहवारीका फायदा हुवा सो राजासाहब भी ऐसा करनेसे राजी होंगे इस बातका भी आपको विचार करना चाहिये।

इस पर न्यायाधीश बोले—हां ठीक है। लेकिन भेट देनेवाले साहुकारकी इच्छा भेट देनेमें क्या थी सो उसको पूछेंगे ऐसा कहकर साहुकारको वहां बुला लिया और उसको पूछा कि—तुमने राजासाहबको जो भेट दी है उसका भोग खुद राजा साहबको लेना चाहिये ऐसा आप चाहते हैं अथवा राजा साहबकी सेवा करनेवाला उसको ले जायगा तो चलेगा ?

साहुकारने जवाब दिया कि—मैंने बडा भारी खर्च करके मिठाइयां बनाई हैं और दूरदूरसे फलफलावल मंगाये हैं, सो खुद राजा साहबके भोगमें आना चाहिये ऐसी मेरी खास इच्छा है—नौकरके वास्ते इतना परिश्रम मैंने नहीं उठाया है। इतना सुनकर न्यायाधीशने साहुकारको लौटा दिया और वह भेटकी थालियां राजा साहबकी भोजनशालामें भेज दीं।

इस कथाका सारांश इतना है कि—राजाके हुकम बिगर कोई भी नौकर राजाको दिई हुई भेट अपने घर ले जा सक्ता नहीं और भेट देनेवाला उस भेटका भोग राजाको ही लेना चाहिये ऐसा चाहता है। नौकरोंको देना नहीं चाहता है।

अब भगवानको चढाया हुवा द्रव्य भगवान तो खाते नहीं तो भगवानको उस द्रव्यको भोगना चाहिये यह चढानेवालेकी इच्छा कैसे

पूरी हो सक्ती है ? ऐसा प्रश्न यहां खडा होता है। उसका समाधान 'जैन सिद्धान्त' सन् १९२० प्रथम अंक 'मूर्ति पूजा' शिरो लेख पत्र १९में पंडित बनसीधरजी ने भावार्थ दिया है उससे होता है। उसमें पंडितजी कहते हैं—"प्रथम अक्षतादिरूप द्रव्यको जो देखना है उसका यह तात्पर्य है कि ये अक्षतादि द्रव्य हैं। बादमें, अक्षतादि शब्दोंका जो क्षयाभाव विशिष्ट ऐसा अर्थ होता है उस अर्थको केवल विशेषण रूपसे ग्रहण करता हुवा पूजक, उन विशेषणोंका आधार जो अर्हत भगवान उसे विशेष्यरूपसे देखता हुवा विशेषण विशेष्यका संबंध हुवा मानता है। अर्थात ऐसा मानता है कि जो अक्षतादि पदोंका अर्थ है वही अर्हत भगवानका स्वरूप है। इस प्रकार व्यवहारनयकी भावनासे भेद करता हुवा विशिष्टपनेका अनुभव उसे अर्हन्तमें होता है। बादमें जिस प्रकार भेदरूप रत्नत्रयके स्वरूपसे अभेदरूप ठहराया जाता है उसी प्रकार, वह होता तेजपुंजरूप अग्निपिंडमें अक्षतादि क्षेपण करता हुवा उस अग्नि पुंजको अर्हतकी भावनासे भाने लगता है।"

इस परसे सिद्ध होता है कि अग्निकुण्डमें डाला हुवा द्रव्य भगवानकूं पहोंच जाता है। ऐसी पूजन करनेवालेकी भावना हो जाती है।

इस पर पंडितजी कहेंगे यह तो हमने हवनकर्मका भावार्थ दिया है पूजन कर्म अलग है और वह हवनसे पहले होता है। इसका जबाब ऐसा है। महापुराणके ३९।४०।४१ पर्वोंमें जहांपर ईज्या वार्ता व दत्ति व इत्यादि षट् कर्मोंका वर्णन विस्तारसे किया है वहांपर ईज्या, महेज्या, पूजा इत्यादि जो शब्द हैं सो पूजन वाचक ही हैं हवन शब्द ही नहीं है। ऐसा—"अस्मिन्नग्नित्रये पूजां" "नित्येज्या यस्य सद्मनि" "तेष्वर्हदीज्याशेषांशैः" इत्यादि वाक्योंसे अग्निकुण्डोंमें पूजन करना ऐसा तो शब्द मिलता है लेकिन 'हवन' शब्द मिलता नहीं है।

मूर्तिपूजा शीर्षक लेखमें पंडितजीने महापुराणके २९ श्लोक दिये हैं। जिसमें 'हवन' शब्द नहीं है तो भी वादी संतोषार्थ अग्निकुण्डोंमें हवन भी किया जाता है ऐसा मानलें तो भी कुण्डको निर्माल्यकूट यह नाम दिया हुवा इस लेखके पत्र ८ में पंडितजी कबूल करते हैं। यदि उसको निर्माल्य कूट कहोगे और उसका विशेषण—'निर्माल्यवाहिनः' ऐसा पद्मपुराणमें दिया हुवा आप कबूल करते हैं, तो उसमें निर्माल्य द्रव्य डालना ही पडेगा। निर्माल्य द्रव्य डाले विगर उसको 'निर्माल्यकूट' यह नाम और 'निर्माल्य वाहिनः' यह विशेषण कैसे प्राप्त हो सकेगा ?

हवन क्रियामें पंडितजीके अभिप्रायसे निर्माल्य कुछ भी डाला जाता नहीं, और पूजनका निर्माल्य द्रव्य देवसेवा करनेवाला अपने घर ले जायगा तो फिर निर्माल्यकूटमें कौनसा निर्माल्य-द्रव्य डाला जायगा ?

इस शंकाका पण्डितजीके लेखमें कहीं पर भी उत्तर नहीं है। यदि निर्माल्य कूटमें हवन क्रियासे निर्माल्य द्रव्य डाला जाता नहीं है तो पूजन क्रियाका निर्माल्य-द्रव्य अवश्य डालना ही पडेगा।

इस पर पण्डितजीका तर्क ऐसा है कि यदि अग्निकुण्डोंमें पूजन कर दिया तो निर्माल्य बचता ही नहीं और उसको कोई ग्रहण कर सकता ही नहीं तो फिर उसके ग्रहण करनेवालोंको इतना पाप आचार्योंको बतानेकी जरूरत नहीं थी यह तर्क एकदृष्टिसे योग्य दीखता है। लेकिन थोडा विचार करनेसे उसका जवाब मिल सकता है।

कई लोग ऐसा विचार करते हैं कि हजारों रुपयोंके निर्माल्य-द्रव्यसे सैकडों आदमियोंकी आजीविका होनेवाली थी उसको अग्निमें भस्मकर देते हैं यह अर्थशास्त्रके नियमानुसार दुनियांका बडा भारी नुकसान करते हैं। शास्त्रमें लिखनेवालेकी नयविवक्षा कुछ और होगी। अपन तो इस द्रव्यको जलायगे नहीं किसीको देदेंगे और उसके बदलेमें मंदिरकी सेवा करालेंगे, जिसमें अपना खर्चा बचेगा।

ऐसे हेतुवाले अभी बहुतसे आदमी हैं वैसे पहिले भी होंगे इसका नमूना देखना हो तो अभिषेकके समय नजर पडता है। उपाध्याय–पूजारी लोग जब प्रतिमाका अभिषेक करते हैं उस वख्त दूध, दही प्रतिमाके मस्तकके ऊपर डाल कर तजवीजसे अलग पात्रमें निकाल लेते हैं। और जब शर्करा अभिषेक करते हैं उस वख्त शर्कराको मस्तक पर नहीं डालते हैं। प्रतिमाके मुखसे अलग रिकावीमेंसे दूसरी एक रिकावीमें गिराते हैं जिससे वह साबित उनको मिलती है। यदि मस्तक ऊपर डालेंगे तो वह शर्करा जलमें मिल जायगी उनके हाथ कुछ नहीं आयगा। यह उनका लोभ कषाय सब कोई जानते हैं। सो ऐसे लोभ कषायी अर्थशास्त्री जैसे अभी हैं वैसे पहिले भी थे। वे अग्निमें न डाल कर घर ले जाते थे उनको पापसे बचानेके लिये निर्माल्य–द्रव्य ग्रहण करनेका पाप आचार्योंको लिखना पडा।

अग्निकुण्डमें पूजन करते समय जब तक अपने रिकावीमें द्रव्य है और जब तक 'अर्घ्यं निर्वपामि' ऐसा नहीं कहा गया तब तक वह निर्माल्य नहीं है। 'अर्घ्यं निर्वपामि' इतना कह दिये बाद वह निर्माल्य हो चुका और 'इति स्वाहा' ऐसा कह कर निर्माल्यकूटमे डाल दिया। पूजन विधि समाप्त हो चुकी। कदाचित् कोई ऐसा अग्निकुण्डमें पूजन न करके चौकी पर या टेबल पर करेगा तो वह निर्माल्य–द्रव्य हवन क्रिया करके निर्माल्य कूटमें तो डालना ही पडेगा।

यदि देवसेवा करनेवाले उसको ले जावेंगे तो निर्माल्यकूटमें अब क्या डालेंगे ? और उसका सार्थक नाम निर्माल्यकूट कैसा रख सकोगे ?

पत्र ३ मे पंडितजी लिखते हैं "जिस प्रकार सभीके लिये सर्प सर्प हो सकता है, परन्तु गरुडके लिये वह सर्प नहीं हो सकता है वैसे औरोंके लिये निर्माल्यका दोष लगता है लेकिन नियोगीके (देवसेवा करनेवालेके) लिये वह निर्माल्य ग्रहणमें दोष नहीं है"। यहां सर्प और

गरुडका दृष्टांत भी प्रतिकूल है। सर्पका पूंछ गरुड अपने चोंचमें पकडकर उसको आकाशमें लेजाता है वहां उसको खूब घुमाकर ऊंचेसे जमीन -पर पटक देता है जिससे सर्प मर-जाता है। इस वजेसे सर्पको गरुड मार डालता है यह बात सत्य है। लेकिन गरुड नीचे जमीनपर बैठा हो, और उसकी नजर चुराके यदि सर्प उसके पांवको काट ले तो गरुड मर जाता है। ऐसा जानवरोंकी दवा करनेवाले व्हिटरेनरी सर्जन कहते हैं जैसा गरुड सर्पको मार डालता है वैसा मोर भी सर्पके शिरपर चांच मार कर उसको मार डालता है और बिल्ली भी उसको मार डालती है। लेकिन मोर या बिल्लीको सर्पने डश किया तो वे भी मर जाते हैं। सो इस गरुडके दृष्टांतसे पंडितजीने निर्माल्य ग्रहण करनेवाले पुजारी उपाध्यायको निर्माल्यके पापसे बचानेको सिद्ध करना चाहा सो सिद्ध हो नहीं पाया। यदि भगवान्की सेवा करनेवाला निर्माल्य ग्रहणके पापसे बचता है तो इतर हिंसा, चोरी, झूठ, व्यभिचार इत्यादि पापोंसे भी बचना चाहिए ! !

पण्डितजी इस लेखके पत्र ४ में लिखते हैं—“ भोजनके बाद उस भोजनकी जो विष्ठा बनती है उस विष्ठाके ऊपर विष्ठा करनेवालेका स्वामित्व नष्ट होकर म्यूनिसिपालिटियोंका स्वामित्व स्थापन हो जाता है। ”

लेकिन वास्तवमें ऐसा नहीं है। यदि विष्ठाका मालिक अपनी विष्ठा उठा करके अपने खेतमें डाल दे तो उसको म्यूनिसिपालिटी हरकत नहीं कर सकती। विष्ठाके मालिकको अपनी विष्ठा उठा ले जानेके वास्ते म्यूनिसिपालटीको अर्जी देनी पडती है और म्यूनिसिपालिटीको इस कामके वास्ते साढेचार रुपये दरसाल देने पडते हैं तब म्युनिसिपालिटी विष्ठा उठाती है। अस्पतालमेंके आदमियोंकी विष्ठा वहांकी भट्टीमें जला देते हैं ऐसा दादरकी मिलिटरी अस्पतालमें देखनेमें आया। सोलापुरमें मिलवालोंके दोसौ पायखानेकी विष्ठा -म्यूनिसिपालिटी

उठाती नहीं। उसको मिलवाले आप वेच देते हैं। म्यूनिसिपालिटी उस पर अपना कुछ हक्क बताती नहीं। और कोई गवर्नमेंटको बीचमें पडनेकी जरूरत पडती नहीं। अब आगे होनेवाले इलेक्शनमें पंडितजी यदि म्यूनिसिपालिटीमें मेंबर चुने जायेंगे तो म्यूनिसिपालिटीका शहरके विष्ठाके ऊपर कितना हक्क है सो उनको बराबर मालूम हो जायगा। यदि विष्ठके ऊपर म्यूनिसिपालिटीका स्वामित्व नहीं है ऐसा पण्डितजीके जाननेमें आवेगा तो निर्माल्य द्रव्यके ऊपर उपाध्याय पूजारीका कुछ स्वामित्व नहीं है ऐसा उनकी समझमें आजायगा।

पण्डितजीने पत्र १३में पुरुषार्थसिद्ध्युपायका एक श्लोक दिया वह इस मुजब है—

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करणचरणं स बहिः करणालसो बालः॥ ५०॥

अर्थात्—जो जीव निश्चय नयके स्वरूपको न जानकर व्यवहाररूप बाह्य परिग्रहके त्यागको निश्चयसे मोक्षमार्ग जान अंगीकार करता है, वह मूर्ख शुद्धोपयोगरूप आत्माकी दयाको नष्ट करता है।

यह श्लोक पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें अहिंसाके विषयका है। इसका संबंध निर्माल्यके विषयसे कुछ भी नहीं है। कदाचित निर्माल्य ग्रहण करनेवालेके हाथसे भगवान्‌का पूजा प्रक्षाल नहीं कराना चाहिये ऐसा कहनेवाले ऐ० पन्नालाल महाराज, क्षुल्लक मुन्नालाल महाराज, ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी, पं० श्रीलालजी, पं० गुलजारीलालजी इत्यादि मूर्ख हैं ऐसा बतलानेके लिये यह श्लोक दिया हो तो मालूम नही लेकिन इस श्लोकके ऊपर पण्डितजीने ही यह श्लोक देनेका सबब दिया है सो ऐसा है—"इस प्रकार धर्माश्रित आजीविका करे वह पापी इत्यादि अभिप्रायके उपदेशोंको ठसा ठसाकर धर्मके व्यवहारका अज्ञ मनुष्योंने कण्ठगत प्राण कर दिया। हमारा यह कहना नहीं है कि—ये सिद्धांत असत्य है"

इसमें पंडितजी कबूल करते हैं कि–' ये सिद्धान्त सत्य हैं ' तो फिर उन सिद्धान्तोंका उपदेश करने वालोंको मूर्ख कहना यह बडी भारी भूल है। धर्माश्रित आजीविका करना निंद्य है ऐसा पंडितजीके गुरुजी पं० गोपालदासजी और उनके गुरुजी पं० बलदेवदासजी कहते थे। प्रतिष्ठापाठमें लिखा है–

नैव पाखंडि पुत्रो वा देव द्रव्योपजीविक।
+ + + एवं समासतः प्रोक्तं प्रतिष्ठाचार्यलक्षणं॥

अर्थात्–देवद्रव्यसे आजीविका करनेवाला प्रतिष्ठाचार्य न होना चाहिये।

इस ही श्लोकके नीचे पण्डितजीने एक श्लोक दिया सो इस मुजब है–

उच्चावचजनप्रायः समयोऽयं जिनेशिनाम।
नैकस्मिन् पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालयः॥

अर्थ–ऊंचे नीचे सभी प्रकारके मनुष्य मिलनेसे जिनेश भगवानका यह शासन जीवित अवस्थामें मौजूद हो। ऊंचेसे ऊंचे सर्वथा निर्दोष किसी एकाध मनुष्यको ही यदि जैन धर्मी मानाजाय तो क्या जैन शासनकी जीवित दशा ठहर सकती है? क्या किसी मकानकी रचना या स्थिति एक ही खंभ या दीवारपर हो सक्ती है?

यह श्लोक आशाधरका है ऐसा पण्डितजी लिखते हैं लेकिन सागारधर्मामृत देखनेसे यह श्लोक आशाधरका नहीं है लेकिन आशाधरका एक श्लोक—

" विन्यस्यैदं युगीनेषु प्रतिमासु जिनानिव॥
भक्त्यापूर्वमुनीनर्चेत् कुतः श्रेयोति चार्चिनाम्॥ ६४॥

" अर्थात्–जैसे रत्न पाषाणकी मूर्ति करके उसको ऋषभ, अजित इत्यादि नाम देकर उसकी स्थापना करके पूजा करते हैं उस ही प्रकार

इस पंचम कालके मुनियोंमें पूर्वकालके मुनियोंकी कल्पना करके भक्तिसे उनका सत्कार करना चाहिये। कारण बहुत चिकित्सा करनेसे क्या फायदा है ? "

इस श्लोकके नीचे सोम देवसूरीके श्लोक नोटमें दिये हैं उसमेंका यह एक है। इसका संबंध निर्माल्य विनियोगके विषयसे कुछ भी नहीं है।

इसका जो असली अभिप्राय है कि—जैन धर्ममें उच्च चारित्रके और नीचे चारित्रके आदमी होना चाहिये सो सभीको मान्य है, कई पाक्षिक हैं, कई दर्शनिक है; कई दूसरी प्रतिमाधारी, कई तीसरी, चौथी, पांचमी, छठी, सातवीं ऐसे ग्यारहवीं प्रतिमातक श्रावक, और छट्टे गुण स्थान, सप्तम गुणस्थानके मुनि भी पाये जाते हैं ऐसे सभी किसमके मनुष्य देखनेमें आते हैं उनको उनकी योग्यतानुसार सभी मानते है। लेकिन पं० बनसीधरजी और पं० वल्लाप्पा अनंत उपाध्याय आदिका यह श्लोक बतलानेका आशय ऐसा है कि—ऊंचे मालमें हलका माल सामिल हो जाना चाहिये। वस्त्रधारी भट्टारकोंको पंचम कालके मुनि मानकर उनकी मुनिके माफक नवधा भक्तिपूर्वक पाद-पूजा सत्कार होना चाहिये। यह बात जैन सिद्धान्तके तारतम्यताके विरुद्ध है। यदि वे वस्त्रधारी अपनेको मुनि अथवा भट्टारक न कहला कर श्रावकके दर्जेमें अपने पद-वीके अनुकूल माननेको कहेंगे तो चल सक्ता है। वह अपने चारित्रके माफक नाम धारण करके वर्तेंगे तो उनका कोई तिरस्कार नहीं करेगा। यदि पंडितजी इस सोमदेवसूरिके श्लोकका अभिप्राय ऐसा निकालेंगे कि ऊंचे नीचे सभीको समान मानना चाहिये तो " टके सेर भाजी टके सेर खाजा " ऐसा हो जायगा। सो यह बात सोमदेवसूरिको भी पसंद नहीं है। वे आगेके अपने श्लोकमें कहते हैं—

सत्कारादि विधावेषां दर्शनं दूषितं भवेत्।
यथा विशुद्धमप्यम्बु विषभाजनसंगमात् ॥ ३ ॥

अर्थात्—इनका सत्कार अंगीकृत करनेसे उनका सम्यक्त्व विषपात्रमें रखे हुये जल माफक दूषित होगा।

पंडितजी कहते हैं—" निर्माल्य ग्रहणका इतना बडा दोष है यह प्रश्न जो समाजमें जोरके साथ फैलाया जा रहा है, उसका कारण कहीं तो अज्ञान है और कहीं कषाय है। कषायमें तो लोभ मुख्य है और अज्ञान शास्त्रोंके अर्थका न समझना है। "

अब लोभ कषाय निर्माल्य द्रव्य त्याग करनेमें होगा या ग्रहण करनेमें होगा, इसका उत्तर कोई भी यही देगा कि—ग्रहण करनेमें लोभ कषाय है न कि त्यागनेमें।

अब दूसरा कारण अज्ञान शास्त्रके अर्थका न समझना है, ऐसा बताते हैं तो अब—" प्रमादाद्देवतादत्त नैवेद्यग्रहणं तथा। " इसका अर्थ देवताओंको अर्पण किया हुवा नैवेद्य लोभ कषायसे ग्रहण करना यह अर्थ सीधा है। पंडितजीने भी तत्वार्थसारका जो अर्थ लिखा है वहांपर इस मुजब अर्थ लिखा है—

" नैवेद्य देवको समर्पण करदेनेपर फिर वह लोभवश होकर उठा लेना " ऐसा किया है। और निर्माल्य विनियोग लेखमें इस मुजब अर्थ किया है कि "प्रमादाचरण पूर्वक दूसरेको विघ्न उपस्थित हो ऐसी तरहसे देवता दत्त नैवेद्यादिका ग्रहण करे तो अंतरायका कारण हो" इसमें "दूसरेको विघ्न उपस्थित हो ऐसी तरहसे" इतने शब्द श्लोकमेंसे किस शब्दसे निकाले सो मालूम नहीं। उन्हीके तत्वार्थसार ग्रंथके अर्थमें ये शब्द नहीं हैं लेकिन इस लेखमें पंडितजीने डाल दिये और लिखते हैं। तत्वार्थसारमें स्पष्ट करके खास बताया है।

वैसा ही-"देवता निवेद्या निवेद्यग्रहणम्" इसका अर्थ देवताको निवेदित किया हुवा और निवेदित न किया हुवा ऐसा दो प्रकारका द्रव्य ग्रहण करनेसे दूसरेके दान लाभ भोगोपभोग वीर्यमें विघ्न उपस्थित होता है।

इस लिये उस द्रव्यको लेनेवाला अंतराय कर्म बांधता है। " ऐसे इस लेखमें पंडितजी अर्थ करते हैं। और इस ही वार्तिकका, तत्वार्थसारका अर्थ लिखते समय नोटमें अर्थ इस मुजब लिखते हैं कि–"राजवार्तिकमें अर्पित अनर्पित दोनोंको लेनेवाला अंतराय कर्मका भागी लिखा है।" इस अर्थमें और लेखके अर्थमें बडीभारी तफावत है।

देखिये "दूसरेको विघ्न उपस्थित हो ऐसी तरहसे" ये शब्द इस अर्थमें नही हैं।

पडित भूधरदासजीने अपने चर्चा समाधान ग्रंथमें तत्वार्थसारके श्लोकका और राजवार्तिकके वार्तिकका अर्थ पृ० ९७में दिया है सो इस मुजब है। "निर्माल्यके दो भेद हैं। एक देव द्रव्य, दूजा देवधन। जो नेवज आदि वस्तु देवता निमित्त निवेदन करिये, समर्पण करिये, चढाइये, तिसे निर्माल्य द्रव्य कहिये है। अर पूजा चैत्यालयादिका द्रव्य होई तिसे देवधन कहिये। तिनमें जो देवचढी वस्तु खाई तिसे अंतराय कर्मका बंध होई। अर जो देव धनको अंगीकार करें सो नरक जाइ।"

अर पं० जयचंद्रजी अपने सर्वार्थसिद्धि वचनिकामें लिखते हैं कि– "निर्माल्य द्रव्य लेना इससे अंतराय कर्मके आस्त्रव होते हैं।"

अर पं० सदासुखजी अपने अर्थ प्रकाशिका पृ० २९२में लिखते हैं–देवताको चढी वस्तुके ग्रहण करनेसे अंतराय कर्मके आस्त्रव होते हैं।" फिर आगे पत्र २९३में लिखते हैं–" यहां कोई ऐसी आशंका करै–जो कोई पुरुष अभक्ष्य भक्षण करे ताको वर्जन करे, तो ताके अंतराय कर्मका आस्त्रव कैसे नहीं कहा ? ताका समाधान–जो कोई अभक्ष्य भक्षण करता देख ऐसा विचार करैं जो अभक्ष्य भक्षणतै नरक जायगा। अर हिंसातैं महान पापका बन्ध होगा। किसी तरह याके यातना नहीं होइ ऐसी करुणा भावना करि वर्जन करैं ताके तो अंतराय कर्मका बन्ध नहीं होय। अर जाका केवल भोग बिगाडनेका अभिप्रायतै ही वर्जन करैं ताकै अंतरायका आस्त्रव होयगा।"

इस मुजब पं० भूधरदासजी, पं० जयचंदजी, पं० सदासुखजी ऐसे तीनों पंडितोंने जो अर्थ दिया है उसमें किसीमें भी—दूसरेके दान लाभ भोगोपभोग वीर्यमें विघ्न उपस्थित होता है इस लिये" और "दूसरेको विघ्न उपस्थित हो ऐसी तरहसे" ये शब्द डाले नहीं। पं० वंसीधरजीने भी तत्वार्थसार ग्रंथका अर्थ जो दो वर्ष पहिले लिखा है उसमें भी ये शब्द दीखते नहीं हैं। फक्त इस निर्माल्य विनियोग नामके लेखमें ही ये शब्द लगा दिये हैं सो क्या पं० भूधरदासजी, पं० जयचंदजी और पं० सदासुखजीका अज्ञान है? और उनको शास्त्रोंका अर्थ समझनेमें नहीं आया ऐसा पं० वन्सीधरजी कहते हैं? खुद पं० बन्सीधरजीने दो वर्ष पहिले तत्वार्थसारका जो अर्थ लिखा उस वक्त शास्त्रका अर्थज्ञान उनके समझनेमें नहीं आया और अब आया ऐसा पंडितजी कबूल करेंगे?

यदि उपर्युक्त चारों पंडितोंका लिखा हुवा अर्थ बराबर है तो उस अर्थके अनुसार ऐलक पन्नालाल महाराज, क्षुल्लक पन्नालाल महाराज, पं० श्रीलालजी अलीगढवाले, पं० सेठ मेवारामजी खुर्जावाले, ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी इत्यादि कहते हैं—कि निर्माल्य द्रव्य पुजारी—उपाध्यायको देकर उसके बदलेमें उनके हाथसे भगवान्की पूजा कराना पाप है ऐसा कहते है सो शास्त्रका अर्थ समझे नहीं है ऐसा पंडितजी कहते हैं? अथवा लोभ कपायके वश हो कर ऐसा कहते हैं ऐसा पंडितजी कहेंगे? लोभ कपाय तो निर्माल्य द्रव्य ग्रहण करनेमें है अथवा किसीको देकर बदलेमें मंदिरका काम लेनेमें निर्माल्यका त्याग करनेमें अथवा निर्माल्य कूटमें डाल कर भस्म करनेमें नहीं है?

यदि पं० बन्सीधरजी दो वर्ष पहिले निर्माल्य द्रव्य ग्रहण करनेमें पाप है ऐसा लिख चुके और आज देवसेवा करनेवाले ग्रहण करें तो उनको पाप नहीं ऐसा लिखते हैं। सो कदाचित् लोभ कपायके उत्पन्न

होनेसे ही लिखते होंगे। ऐसा अनुमान हो सकता है। क्योंकि शास्त्रोंका अर्थ जब आदमी लोभके वश होता है तब पलट देता है। पंडित वंसीधरजी श्लोकका और वार्तिकका अर्थ समझनेमें अज्ञानी हैं ऐसा हो नहीं सकता। क्योंकि उन्होंने न्यायतीर्थकी परीक्षा दी है। जैसे वसुराजाको "अज" शब्दका अर्थ पुराना धान ऐसा बराबर मालूम था तो भी पर्वतके माके शिफारस वास्ते वसुराजाने अज शब्दका अर्थ बकरा होता है ऐसा पलटा दिया तो शास्त्रोंका अर्थ कषायके वश होनेसे बड़े बडे विद्वान् लोग भी पलटा देते हैं।

पंडितजी पत्र ६में लिखते हैं कि—"जब ग्रंथोंमें भक्षणके निषेधका कोई एक शब्द भी कहींपर न मिला तब सचित्त त्याग प्रतिमाके विषयमें कार्तिकेयानुप्रेक्षामेंके एक भक्षण निषेध करनेवाले श्लोकको निर्माल्य भक्षणके निषेध करनेमें जोडकर उसके भक्षणके निषेधको पुष्ट कर दिया।"

ठीक लेकिन—"प्रमादाद्देवतादत्तनैवेद्य ग्रहणं तथा" इसमें जो 'ग्रहण' शब्द पडा है उसका अर्थ यहां 'भक्षण' होता ही नहीं क्या? उदाहरणार्थ तत्वार्थसारके अर्थमें पत्र २१६में पंडितजीने नोट दिया है कि "देवताको अर्पण कर दी गई खानेकी चीजको प्रमादवश होकर ग्रहण करनेवाला अंतराय कर्म बांधता है।" इसमें खानेकी चीज ग्रहण करना सो भक्षणके वास्ते ही है। और भी त्रैवर्णिकाचार पृ० २९६में—"पूग-ताम्बूल पर्णानि गृण्हीयान्मुखशुद्धये। अर्थ—नंतर मुखाच्या शुद्धी करितां ताम्बूल भक्षण करावें" इस प्रकार पं० कल्लाप्पा निटवे 'ग्रहण' शब्दका अर्थ भक्षण करना लिखते हैं और पृ० २२६में लिखते हैं।

"देवार्चकश्च निर्माल्यभोक्ता जीव विनाशकः। ×
××× इत्यादि दुष्टसंसर्ग सन्त्यजेत्पंक्ति भोजने॥

अर्थात्—देवपूजा करके उदर निर्वाह करणहारा और निर्माल्य भक्षण करणहारा ये पंक्ति भोजनकूं अयोग्य है। पं० भूधरदासजी लिखते हैं "देव चढी वस्तु खाई तिसे अन्तराय कर्मका बंध होई इस प्रकार

निर्माल्य भक्षणके निषेधका प्रमाण कई ग्रंथोंमें मिलता है तो फिर ग्रहणका अर्थ भक्षण समझके कृत कारितका समान पाप बतलानेमें स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी सचित्तत्याग विषयकी गाथा प्रमाणमें देनेसे क्या बिगडा सो मालूम नहीं होता।

अब 'पूजा' शब्दका अर्थ अग्निकी पूजा ऐसा पंडितजी करते हैं सो कैसा होता है।

अस्मिन्नग्नित्रये पूजां मंत्रैः कुर्वन् द्विजोत्तमः।
आहिताग्निरिति ज्ञेयो नित्येज्या यस्य सद्मनि ॥८५॥पर्व ४०॥

"अर्थात्–जो इन तीनों प्रकारकी अग्नियोंमें इन मंत्रोंसे पूजा करता है वह उत्तम द्विज वा ब्राह्मण कहलाता है और जिसके घर ऐसी पूजा नित्य होती है उसे आहिताग्नि अथवा अग्निहोत्री समझना चाहिये।"

इस प्रकार पंडित लालारामजी उपर्युक्त श्लोकका अर्थ लिखते हैं। और पं० कल्लाप्पा निटवे भी इस श्लोकका अर्थ–"या अग्नित्रयाचे ठिकाणीं पीठिका मंत्रांनीं पूजा करणारा ब्राह्मण श्रेष्ठ होय। ज्याच्या घरीं ही पूजा नित्य चालते तो आहिताग्नि समजावा।"

और पं० दौलतरामजी इस श्लोकका अर्थ इस मुजब लिखते हैं–"इनि विषै उत्तम द्विज मंत्रनिकरि होमरूप पूजा करता संता अग्निहोत्री कहिए नित्य है पूजा जाके घर विषै ॥८५॥"

अर पंडितजी अपने मूर्तिपूजा लेख पत्र १३में इस श्लोकका अर्थ ऐसा देते हैं। "इन तीन अग्नियोंकी पूजा जिसके घरमें सदा रहती है और जो उत्तम द्विज मंत्र पूर्वक इन तीन अग्नियोंमें पूजा करता है वह आहिताग्नि अथवा अग्निहोत्री कहाता है।"

इस प० बनसीधरजीका अर्थ ऊपरके तीन पंडितोंके अर्थोंसे मिलान करेंगे तो–'इन तीन अग्नियोंकी पूजा ये शब्द उपरले उन तीनों पंडितोंके अर्थमें नहीं हैं तो फिर पं०बनसीधरजीने यह अर्थ श्लोक किस पदसे

निकाला सो मालूम नहीं होता है। कोई भी सुरतसे अग्निका पूजन सिद्ध करनेके वास्ते यह अर्थ पल्लुका लगा दिया ऐसा अनुमान होता है।

इस श्लोकमें—'अग्नित्रये' यह शब्द है उसकी सप्तमी विभक्ति है जिसका अर्थ 'अग्नियोंमें' ऐसा अर्थ तो पंडितजीने किया है। अब उसके आगेका शब्द 'पूजां' ऐसा है वह किसकी पूजा इसका खुलासा श्लोकमें नहीं है, जिससे पंडितजीने अपने पक्षका शब्द 'अग्नियोंकी पूजा' ऐसा लिख डाला। लेकिन उस 'पूजां' शब्दके आगे 'मंत्रैः' ऐसा शब्द पड़ा है। वह शब्द करणीतृतीयाका है, सो वे मंत्र देखनेसे निश्चय होगा कि यहां पर पूजा अग्निकी है या भगवानकी है?

वे मंत्र इस मुजब हैं—

सत्यजाताय नमः। अर्हज्जाताय नमः। परमजाताय नमः। परमार्हताय नमः। सर्वज्ञाय नमः। अर्हते नमः। परमेष्ठिने नमोः नमः। इत्यादि

इस परसे यह मंत्र भगवानके नामके हैं। अग्निके नामका एक भी मंत्र नहीं है। अग्निके नामके मंत्र होते तो—

अग्नये नमः। वन्हये नमः। हव्यवाहनाय नमः स्वाहा। वैश्वानरायनमः स्वाहा।

इत्यादि मंत्र लिखते थे। लेकिन ऐसा एक भी मंत्र नही है। इस परसे यहां पर—'अग्निकी पूजा' ऐसा अर्थ हो सक्ता नहीं। और किसी पंडितने किया भी नहीं फक्त पं० बंसीधरजीने अपना पक्ष समर्थन करनेके हेतुसे ठीक दिया है।

अग्निकुण्डोंमें पूजन करनेके दूसरे प्रमाण उत्तरपुराण—पर्व ६७, पृ० ३३८

तथा तीर्थगणाधीश शेषकेवालिसद्वपुः॥
संस्कार महितागींद्र मुकुटोत्थाग्निषु त्रिषु॥ २०४॥
परमात्मपदं प्रासान्निजान् पितृ पितामहान्।
उद्दिश्य भाक्तिका पुष्पगंधाक्षतफलादिभिः॥२०५॥
आर्षोपासक वेदोक्त मंत्रोचारणपूर्वकम्।

दानादिसत्क्रियोपेता गेहाश्रमतपस्विनः ॥ २०६ ॥
नित्यमिष्ट्वेन्द्रसामानिकादिमान्यपदोदिताः ।
लौकान्तिकाश्च भूत्वामर द्विजा ध्वस्तकल्मषाः ॥२०७॥

अर्थात्–इसके सिवाय तीर्थंकर गणधर और शेष केवलियोंके उत्तम शरीरके संस्कारसे पूज्य तथा अग्निकुमार इंद्रके मुकुटसे उत्पन्न हुई तीन अग्नियां हैं। उनमें अत्यंत भक्त तथा दान आदि उत्तम उत्तम क्रियाओंको करनेवाले गृहस्थ–तपस्वी परमात्मपदको (सिद्ध पदको) प्राप्त हुए अपने पिता पितामह आदिको उद्देश्य कर ऋषिप्रणीत उपासकाध्ययन नामके वेदमें कहे हुए मंत्रोंको उच्चारण कर पुष्प, अक्षत, गंध, फल आदिके द्वारा जो सदा आहुति देते हैं वह दूसरा आर्षयज्ञ कहलाता है। इस यज्ञके करनेवाले लोग भी इंद्र सामानिक आदि पूज्य पद पाते हैं तथा देव ब्राह्मण (लौकान्तिक देव) होते हैं। और अन्तमें कर्म रूपी पापको नाशकर मुक्त होते हैं ॥ २०४–२०७ ॥

पट् प्राभृत पर श्रुतसागरकी टीकामें भाव प्राभृतमें पत्र १६१ में वसु, पर्वत, नारद इनकी कथामें लिखा है " वन्हिमुखे देवार्चनं विद्वांसो यज्ञं वदंति। " अर्थात् अग्निमुखसे देव–पूजा करनेको विद्वान् लोग यज्ञ कहते हैं।

अमरकोष संस्कृत टीका पत्र १७१ में स्वाहा शब्दका और हव्य शब्दका अर्थ लिखा है अग्निमुखेन देवेभ्यो अन्नं दीयते " अर्थात् अग्नि–मुखसे देवोंको अन्न देते हैं।

पत्र १३में पंडितजी लिखते हैं कि 'वृत्तिलोप' या 'वृत्तिच्छेद' नामका भी एक भयंकर पाप है। जहां पर निर्माल्य ग्रहणका निषेध किया है वहीं पर वार्तिककारने वृत्तिलोप करनेका भयंकर पाप वर्णन किया है। जो निर्माल्यजीवी वर्ग है उसका क्या निर्माल्य जला कर भस्मरूप कर देनेसे आजीविका संबंधी बड़ा साधन नष्ट न होगा ? जिससे कि वृत्तिलोपका पाप लगता है।

इस कोटिक्रमका विचार करते समय पहले वृत्ति किसको कहिये। और लोप अथवा छेद किसको कहिये सो देखना चाहिये।

पंडितजी पत्र १२में लिखते हैं कि "यदि दूसरा उपाध्याय उससे अच्छा न मिलता दीखा तो उस पहिलेकी तनखाह दशकी जगह बारह कर दी जाती है" इत्यादि। इस परसे उपाध्याय अपनी नौकरी मालिकके पाससे तनख्वाह अथवा निर्माल्य लेकर करते हैं, और कुछ सबब होनेसे बदले भी जाते हैं। जैसे मंदिरोंके दूसरे नौकर बदले जाते हैं। कोई भी नौकर एक मालिकसे रुखसत पाया तो दूसरे मालिकके पास नौकरी करता है। और तनख्वाह पाता है। उसके बदलेमें पहला मालिक अपने यहां दूसरा नौकर रख लेता है। कदाचित् नौकरी नहीं मिली अथवा करनेकी इच्छा न हुई तो स्वतंत्र धंदा करके अपनी आजीविका करता है [जैसा पंडितजीने विशालकीर्तिकी नौकरी छोडकर श्रीधर प्रेस खोल दिया। इसमें किसकी वृत्तिका किसने लोप किया ? इसमें वृत्तिलोप कुछ भी नहीं है। यदि आप कहोगे कि निर्माल्य-द्रव्य उपाध्यायको देते तो उसके ऊपर उसकी आजीविका चलती थी। सो तुमने निर्माल्य-कुंडमें जला देनेसे उसकी वृत्तिलोप हुवा या नहीं ? इसका उत्तर ऐसा है कि, हवन क्रिया करनेमें जो पूजनसे बचा हुवा थोडा बहुत भी द्रव्य हवन करनेको आप फर्माते हैं तो यह द्रव्य हवन न करके उपाध्यायको देते तो उसकी आजीविकामें अथवा वृत्तिमें उतनी अधिक भरती होती थी सो तुमने हवन करनेसे थोडा बहुत तो वृत्तिलोपका पाप बांध लिया। वृत्तिलोपके पापसे आप भी बिलकुल बचे तो नहीं लेकिन इसमें वृत्तिलोप करनेमें कषायका सद्भाव देखना पडता है। यदि निर्माल्य द्रव्य ग्रहण करनेमें पाप है ऐसा माना जाय और उस पापसे छुडानेके हेतुसे उसको निर्माल्य द्रव्य ग्रहण करनेसे कोई छुडाता हो तो इसमें वृत्तिलोपका पाप बिलकुल नहीं है। जैसे भामटा लोक हमेशा चोरीसे ही अपनी आजीविका करते हैं उनको चोरी करना

छुडवा कर नौकरीमें अथवा खेतीवाडी करके आजीविका करनेमें लगा दिया तो उसमें पाप होगा या पुन्य होगा ? उसकी चोरी करके आजीविका करनेका वृत्तिलोप तो हुवा लेकिन ऐसा वृत्तिलोप करनेमें आचार्योंने पाप बताया नहीं है। कई आचार्योंने चोरी करनेवालेको चोरीसे छुडाया है और न्यायमार्गसे आजीविका करनेका उपदेश दिया है। कईने मांसाहार छुडाया है। एक धीवरकी आजीविका मत्स्य पकडकर बेचने पर थी उसको उस आजीविकासे एक मुनिने छुडाया सो क्या उन्होंने वृत्तिलोपका पाप किया ? कभी नहीं होता। यहां पर एक दृष्टांत देकर इसको स्पष्ट करेंगे।

एक गृहस्थके पास एक घोडा था। घोडेके वास्ते उसने एक नौकर रखा। घोडेको चंदी अच्छी मिलती थी। जिससे घोडेकी लीद बेचनेसे पंधरा रुपये महीना उपजते थे। नौकरने मालिकसे करार किया कि, मेरेको नौकरीके बदलेमें घोडेकी लीद दो। मै तनखा मांगता नहीं। मालिकने कबूल किया। वह नौकर उस लीदको एक गोवालको वेचता था। गोवाल वह लीद अपनी भैंसको खिलाता था। उसी भैंसका दूध यह नौकर लाकर पीता था। एक दिन नौकर बीमार हुवा। वैद्यने उसकी परीक्षा की और कह दिया कि घोडेकी लीद खानेवाली भैंसका दूध पीनेसे तेरेको यह बीमारी हुई है। वैद्यने यह हाल उसके मालिकको कह दिया। मालिकने विचारा कि घोडेकी लीद भैंसे खाती हैं। उसका दूध आदमी पीते हैं। जिससे बीमार होते हैं। सो लीद किसीको देना अच्छा नहीं उसको जलादेना ऐसा विचार कर नौकरको कहा कि तूं आगेसे लीद बेचना नहीं जला देना और तेरी नौकरीके बदलेमें तेरेको पंधरा रुपये माहवारी हम देते रहेंगे। नौकरने कबूल किया।

इस दृष्टांतका तात्पर्य इतना है कि, नौकरकी वृत्ति लीद पर थी, सो मालिकने छुडवाकर उसको पंधरा रुपये माहवारी करदी। इसमें उसका वृत्तिलोप किया या उसका कुछ भला किया।

पत्र १२में पंडितजी लिखते हैं कि, उत्तर-प्रांतमें निर्माल्य-जीवी वर्ग रहा ही नहीं। दक्षिणमें यह उत्तरकी देखा देखी अवहेलना शुरू हुई है। जिससे कि देवपूजा कर्म नियोगशून्य हो कर दुर्दशामें पहुंच जायगा, यह दीखता है।

इससे यदि निर्माल्यजीवी पूजारी वर्ग नष्ट हो जायगा तो देव पूजा कर्म बंद हो जायगा और मंदिरोंके ताले लग जांयगे ऐसा बड़ी भारी धास्ती पंडितजी बताते है। पंडितजीकी जन्म भूमि उत्तर प्रांतमें हैं, उनका विद्याध्ययन सब उत्तर प्रांतमें हुवा है उनको उत्तर-प्रांतका अच्छा अनुभव है सो उत्तर प्रांतमें निर्माल्योपजीवी पूजारी वर्ग न रहनेसे कौनसे गांवमें कौनसे मंदिरमें देवपूजा बंद हो गई और दक्षिण प्रांतसे अधिक दुर्दशा कौनसी हो गई सो पंडितजी बता सकते है।

श्री जैनबद्री और मूडविद्री तरफ पंडितजी गये थे। वहां पर बहुतसे उपाध्याय पूजारी जिनको इंद्र संज्ञा है ऐसे ही निर्माल्योपजीवी हैं। लेकिन मंदिरमें एक मूलनायक प्रतिमाका प्रक्षाल करते हैं बाकी सैकडों प्रतिमा विना प्रक्षाल रहती हैं। ऐसा पंडितजीने देखा होगा। जैनमित्र वीर संवत २४४७ चैत्र सुदी १४के अंकसे मालूम होता है कि, श्रवणबेलगुलके हरएक मंदिरमें उपाध्याय द्वारा प्रतिमाका नित्य प्रक्षाल कराया जाय ऐसा प्रस्ताव ब्र० शीतलप्रसादजी और दौर्बली शास्त्री-जीको पास करना पड़ा। श्रवणबेलगुलमें विंध्यगिरी पहाड़परकी श्री बाहुबली स्वामीकी बड़ी मूर्तिके चरणोंका रङ्ग काला पड गया है ऊपरका रङ्ग सफेद सुंदर है। चरणोंका काला रंग ऊपरके माफिक रखनेका भी इन निर्माल्योपजीवियोंसे बनता नहीं है।

दक्षिण कर्नाटक प्रांतके सभी मंदिरोंमें निर्माल्योपजीवी उपाध्याय रहते हैं उनकी रसोई मंदिरमें होती है। उनकी रोटियां रखनेका शिका मंदिरमें रहता है। उनकी गौ भैंस भी मंदिरजीमें; गोवरी भी मंदिरजीमें; उनका सभी संसार मंदिरजीमें और मंदिरजीके मालिक आप ही बने

बैठे हैं। श्री स्तवनिधीमें तो उपाध्याय लोगोंने धर्मशालाकी जगा रोक दी है। यात्रियोंको उतरनेमें भी हरकत करते हैं। भगवान्का पूजन हमारे हाथसे ही होगा अन्य श्रावकको करने नहीं देंगे ऐसा कहते हैं। ऐसे लोगोंसे मंदिरका रक्षण होगा ऐसा पंडितजी कहते हैं सो बड़ा आश्चर्य है।

यह निर्माल्योपजीवी पुजारी उपाध्याय वर्ग भारतवर्षमें फकत कर्नाटक प्रांतमें हैं। पंजाब, वायव्य प्रांत, संयुक्त प्रांत, राजपूताना, मारवाड़, गुजरात, मध्य प्रांत, बंगाल इत्यादि दिगंबरियोंकी पांच लाख वस्तीमें कहीं भी नहीं है फकत कर्नाटककी लाख डेढ लाख वस्तीमें इन लोगोंके दो चारसौ घर हैं। सो क्या फकत कर्नाटक प्रांतमें प्रक्षाल होता है और बाकीके प्रांतोंमें देवपूजा होनी बंद हो गई ऐसा पंडितजी कहेंगे? यदि तुलनात्मक दृष्टिसे देखा जाय तो दक्षिण प्रांतके मंदिरोंसे उत्तर प्रांतके मंदिरोंकी स्वच्छता विनय, पूजन, प्रक्षाल, शास्त्र स्वाध्याय, उपकरण, रथ-यात्रा इत्यादि बहुत ही बढिया नजर आयगी और ऐसा दक्षिण प्रांतके कई लोग जो उत्तर प्रांतके मंदिरोंके दर्शन करके आये हैं सो कबूल करते हैं।

पत्र ७ में पंडितजी लिखते हैं कि "निर्माल्य" शब्दका अर्थ निर्मल है। यद्यपि 'निर्मलस्य भावो नैर्मल्य' ऐसा निर्मल अर्थमें शब्द बनता है, परंतु इस विशिष्ट प्रकारके निर्मलपनेके अर्थमें निर्माल्य शब्द बन जाता है। विशिष्ट प्रकारकी निर्मलता यहा इस लिये है कि देवाधिदेवको वह द्रव्य अर्पित हो चुका है। "इस मुजब निर्माल्य शब्दके अर्थसे ही अत्यंत पवित्र ऐसा निर्माल्य द्रव्य सप्त धातुमय और विष्टायुक्त अत्यंत अपवित्र ऐसी जो मनुष्यकी जठराग्नि उसमें डालना अविनयकारक और अत्यंत घृणायुक्त समझकर उसका विनियोग पवित्र ऐसे अग्निकुंडोंमें डाल देना ही उचित मानना चाहिए। और इस ही सबबसे उन अग्निकुंडोंको निर्माल्यकूट ऐसा पवित्र नाम दिया गया है। भगवानकी मूर्ति

अथवा जिनवाणीकी पुस्तक रखना हो तो पवित्र जगहमें रखेंगे या विष्टा ग्रहमें ? क्या नियोगी पुजारी उपाध्यायकी जठराग्नि अपवित्र विष्टायुक्त नहीं है ऐसा पंडितजी कहेंगे ? वह भी तुम्हारे हमारे माफिक औदारिक शरीरवाला जिसमें अपवित्र सप्त धातु भरी हुई हैं तो फिर अत्यंत पवित्र निर्माल्य द्रव्य अत्यंत अपवित्र जगहमें रखना पंडितजीको पसंद हुवा ये बड़ा आश्चर्य है ! !

पत्र ६ में पंडितजी लिखते हैं कि " निर्माल्य ग्रहणसे किसीको विघ्न उपस्थित हो तभी वह अंतरायका कारण हो सकता है । अर्थात ही नियोगी मनुष्यके सिवाय यदि कोई दूसरा उस द्रव्यको ले तो नियोगीके लाभमें विघ्न हुवा माना जायगा; न कि, नियोगीको उसका दोष हो सकता है " यह भी जो पंडितजीने दिया है सो भी अकलंक-स्वामीके "अनपदिष्ट हेतुकत्वादास्रवा नियम इति चेन्न, स्वभावाभिव्यंजकत्वात्' इस वार्तिकका दिया है । लेकिन वार्तिकमें "नियोगी मनुष्य सिवा यदि कोई दूसरा उस द्रव्यको ले तो नियोगीके लाभमें विघ्न हुवा" इस भावार्थके शब्द कहां हैं ? । ये शब्द हैं ही नहीं । विघ्नकरणत्व हेतू बतानेके लिये ये शब्द पंडितजीने वार्तिकमें तो डाल दिये हैं । लेकिन यदि निर्माल्य द्रव्यपर भगवानका हक है । ऐसा सिद्ध हो गया तो वह द्रव्य भगवानको न पहुंचा कर दूसरा कोई भी लेजायगा तो उसने पूजनमें विघ्न किया ऐसा विघ्न करणत्व हेतु सिद्ध हो जाता है । और निर्माल्य द्रव्य भगवानका है ऐसा पंडितजीके लेखसे ही सिद्ध होता है सो देखिए ।

पत्र ४में पंडितजी लिखते हैं कि, "स्थापनाके आरंभसे विसर्जन हुए तक पूजनकी क्रिया सच्ची जाती है । यदि उस पूजा द्रव्यके साथ भोग्य भोजक संबंध देवका माना जाय तो वह संबन्ध और वह स्वामित्व विसर्जनके बादमें खतम हो जाता है" इससे विसर्जन तक तो भगवानका स्वामित्व रहा यह बात पंडितजीने कबूल की है । अब विसर्जन जो

होता है सो "पूजनके अंतमें जिन अनेक द्रव्योंसे अग्निकुंडोंमें हवन किया जाता है वे द्रव्य शांतिधारा छोडनेके कारण अंतमें अर्घ द्रव्य रह जाते हैं। ऐसा पत्र ८ में पंडितजी लिखते हैं उस शांति–धाराके बाद होता है। देखिए शांति-धाराका श्लोक–

प्रध्वस्तघातिकर्माणः केवलज्ञानभास्कराः।
कुर्वंतु जगतः शांतिं ऋषभाद्या जिनेश्वराः॥

ऐसा शांतिधाराका श्लोक कह कर शांतिधारा छोडे पीछे पुष्पांजलि देकर विसर्जन करते हैं, उसके श्लोक इस मुजब–

आहूता ये पुरादेवा लब्धभागा यथाक्रमात्।
ते जिनाभ्यर्चनं कृत्वा सर्वे यांतु यथास्थितिं॥
आव्हाननं न जानामि नैव जानामि पूजनं।
विसर्जनं न जानामि त्वं सिद्ध परमेश्वर॥
मंत्रहीनं क्रियाहीनं द्रव्यहीनं कृतं मया।
तत्सर्वं पूर्णतामेतु त्वत्प्रसादाज्जिनप्रभो॥

ऐसा विसर्जन हुये बाद मूर्तिको उठाकर जहांकी वहां रख देते हैं। और पूजन हवन समाप्त हुवा ऐसा कह कर सब चले जाते हैं,। जैसा सभाका काम संपूर्ण होने बाद सभा विसर्जन हुई ऐसा सभापति कह देते हैं और उठ कर सभा मंडपको छोड़कर चलने लगते हैं उस वखत सभी लोग उनके पीछे चले जाते हैं।

इस मुजब पूजन हवन पूर्ण हुये बाद विसर्जन होता है इतना सिद्ध हुवा, तो फिर निर्माल्य द्रव्य पर भगवान्का हक सिद्ध हो चुका उसको बीचमें कोई लेगा तो उसने देवपूजामें विघ्न किया ऐसा विघ्नकरणत्व हेतु सिद्ध हुवा। कदाचित् विघ्नकरणत्व हेतु सिद्ध नहीं भी हुवा तो भी पूर्व सूत्रमें 'इति' शब्दकी अनुवृत्ति लेकर वार्तिककारने 'द्रव्यपरित्याग' इत्यादि विघ्नकरणत्व हेतु न होनेपर भी अंतराय कर्मके आस्रवोंके कारणोंमें लिये हैं। वैसा निर्माल्य ग्रहण करनेमें विघ्नकरणत्व हेतु न होने पर भी उससे अंतराय कर्मके आस्रवोंके कारणोंमें गिना है, अत०

चोद्यते सूत्रेनुपात्तः सर्वास्त्रवप्रपंचः कथमेवगंतुं शक्यते ? इत्यत्रोच्यते—इति करणानुवृत्तेः सर्वत्रानुक्तसंग्रहः ॥ २ ॥ इति करणानुवर्तते । क्व प्रकृतः ? क्षांति शौचमिति सद्वेद्यस्येत्यतः तेनानुक्तार्थ संग्रहः सर्वत्र वेदितव्यः । प्रकारार्थो हि इति कारण इति ।

इस विषयमें पं० वल्लाप्पा निटवे इस मुजब लिखते हैं—अंतराय कर्मास्त्रवत्वाला विघ्नकारणत्व हाच जर हेतु असतां तर वार्तिककारांनीं संग्रहीत अंतरायास्त्रवांपैकी 'द्रव्या परित्याग प्राणिवधादि' अनेक आस्त्रवांना विघ्नकरणत्व नसताहि अंतरायास्त्रवत्व अभ्युपगत केलें आहे तें प्रमादाचें होईल. वरें, द्रव्या परित्यागादि कर्माचे ठायींहि विघ्नकरणत्व आहे म्हणावें तर 'विघ्नकरणं' या शब्दाने विघ्नकरणत्वा वच्छिन्नाचा संग्रह झाला असता परंतु 'अत्र चोद्यते' असें म्हणून वार्तिककारांनी केलेल्या आक्षेपाच्या समाधानांत 'इति' शब्दाची अनुवृत्ति लिहिण्याचें कारण नव्हतेः या करितां असेंच म्हटलें पाहिजे की, विघ्नकरण कर्में व आचार्यांनीं संग्रहीत दुसरीं कर्में ही दोन्हीं हि अंतराय कर्म निरूपित आस्त्रवता विशिष्ट आहेत. केवळ विघ्नकरणत्वाला आस्त्रवत्वानुमापकत्वही नाहीं व आस्त्रवलक्षणत्वहि नाहीं. तेव्हां निर्माल्यग्रहण अनिवेद्य पदार्थग्रहण स्वरूप कर्म असल्यानें अंतराय कर्मास्त्रवच होतें.

आता 'विघ्नकरणमंतरायस्य' या सुत्रात् वार्तिककारांच्या लिहिण्या प्रमाणें 'इति' शब्दाची अनुवृत्ति (क्षांतिः शौचमितिसद्वेद्यस्य या सुत्रावरून) करावयाची असल्यानें केवळ 'विघ्नकरणत्व' हा हेतु आस्त्रवत्व साधक नव्हे. तर 'विघ्नकरण इति शब्दसंग्रहीत निवेद्यानिवेद्यग्रहणादिकर्मान्यतमत्व' हा हेतुहि आस्त्रवत्व साधक आहे. व तो प्रकृतोद्देश्यभूत निर्माल्य ग्रहणात्मक कर्माचे ठायीं असल्यानें दोर्षली शास्त्रीच्या म्हणण्या प्रमाणें स्वरूपासिद्ध नांवाचा हेत्वाभास होत नाहीं. तसेंच ऊर्ध्व निर्दिष्ट हेतु हेच आस्त्रवाचें लक्षण असल्यानें निर्माल्य ग्रहणरूप कर्माचे ठायीं त्याची अव्याप्तिहि येत नाहीं.

इत्यलं विस्तरेणेति विरम्यते ॥

कल्लापा भरमाप्पा निटवे.

इस मुजब पं० कल्लापा निटवे कर्नाटक देशके होकर भी निर्माल्य द्रव्यके ग्रहणसे अंतरायकर्मके आस्रव होते हैं ऐसा शास्त्रार्थ करके सिद्ध करते हैं। निर्माल्य द्रव्य पुजारी-उपाध्यायको ग्रहण करनेसे और भक्षण करनेसे उनको दोष नहीं है ऐसा स्याद्वाद किसी भी पंडितने स्थापन नहीं किया है। फक्त पंडित बनसीधरजीकी ही यह अपूर्व नयविवक्षा है।

पत्र १२ में पंडितजी लिखते हैं कि उपाध्याय वर्गके कुछ लोग देवपूजन करनेसे घृणा करने लगे हैं और अपनी उन्नतिके लिये आनुवंशिक कर्मको छोडकर वैद्यक व्यापार आदिके व्यवसायोंमें लग रहे हैं।" इत्यादि। इसपरसे पंडितजी ऐसा चाहते हैं कि, उपाध्याय वर्गके पुत्रोंने अधिक कमाईकी विद्या पढना नहीं और अधिक कमाईके व्यवसायमें लगना नहीं-पं० गोपालदासजी कहते थे कि दक्षिणके उपाध्यायके लडके जो विना पढे देखनेमें आये हैं उनको काव्य, व्याकरण, न्याय, जैन सिद्धांत, वैद्यक, गणित इत्यादि विषय पढाओ जिससे दक्षिणका अज्ञान दूर हो कर वहां भी उत्तरके माफिक शास्त्र स्वाध्याय, शास्त्रसभा, शास्त्रचर्चा गांवगांवमें देखनेमें आ जायगी। इस उपदेशसे ही कोल्हापुर, मूडबिद्री, म्हैसुर, श्रवणबेलगुळ इत्यादि जगहमें पाठशालाएं खुली और उनमेंसे कई उपाध्याय मोरेना, बनारस इत्यादि पाठशालामें पढ कर विद्वान् निकले जिसमें वासुदेव शास्त्री, बाहुबलि शर्मा, वल्लाप्पा अनंत उपाध्याय, शांतराजय्या, कुमारय्या ये तो पढाईका और मंदिरमें शास्त्र बाचनेका काम कर रहे हैं। और श्रीपाल वैद्य, आप्पाराव वैद्य, भरमण्णा वैद्य इत्यादि कई पवित्र औषधालय चला रहे हैं। उनको पुजारीपनामें जो कमाई होती थी उससे चौगुनी कमाई हो रही है। सो पंडितजीकी दृष्टिसे समाजका बडा नुकसान हुवा होगा। लेकिन सब भारतवर्षके स्त्री पुरुषोंको जबरीन विद्या पढाना और उनका दारिद्य दूर करना उनको अज्ञानताके पशुपनेसे छुडाना यह बात आज भारतवर्षके मुखिया और जैन सभाएं पुकार पुकारके चिल्ला रही हैं सो पंडितजीके हिसाबसे सब अवनति ही है। हां, कई लोग पंडितजीके

माफक कहते देखनेमें आते हैं कि यदि इस वख्त ही हमको नौकर आदमी मिलते हैं तो फिर सब लोग लिखेपढे हो गये पीछे बड़ी मुश्कीलीसे नौकर तो मिलेगा ही नहीं और मांडे वर्तन हाथसे मांजना पडेंगे सो बडी फिकर आन पडेगी ! !

पूजन उपाध्यायके हाथसे कराना या अपने हाथसे करना इस बारेमें शास्त्राज्ञा क्या है सो पंडितजीको बताना चाहिये था। अपने हाथसे पूजन करना चाहिये सो ही सच्ची भक्ति है ऐसी शास्त्राज्ञा जगह जगह देखनेमें आती है। और उपाध्याय पुजारीके हाथसे पूजन कराया सो भाडोत्री पूजा है ऐसा श्री ऐलक पन्नालाल महाराज आदि कहते हैं। तो फिर पंडितजी उपाध्यायके हाथसे ही पूजन करानेके लिये इतना महत्व क्यों देते हैं मालुम नहीं होता।

देवपुजा यह श्रावकोंके नित्यकर्मोंमेंका एक कर्म है। यदि देवपूजा आप न करके उपाध्याय पुजारीके हाथसे कराना चाहिए ऐसा कहोगे तो 'गुरूपास्ति' यह दूजा नित्यकर्म भी दूसरे कोई नियोगीके हाथसे करना पडेगा वैसा ही तृतीय नित्यकर्म स्वाध्याय, और चौथा संयम, पांचवां तप और छट्ठा दान, ये भी अन्य आदमियोंके हाथसे ही कराने पडेंगे। वाहवा ! ये तो बहुत ही अच्छा हुवा !! सभी षट्कर्म परभारे हो चुके ! धर्म कायम रखनेका बहुत सुलभ उपाय मिल गया !!!

ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी लिखते थे कि, निर्माल्य-द्रव्यकी चर्चा ऊपर पंडित लोग कुछ लिखते नहीं सो खेदकी बात है। लेकिन अब पंडित लोग लिखने लगे यह हर्षकी बात हुई है। पं० बनसीधरजीने संस्कारकूट माने निर्माल्यकूटमें अग्नि होती है यह बात मान्य की है और उसमें पुजनसे बचे हुवे द्रव्यसे हवन करना चाहिये इतना मान्य किया। अब सिर्फ निर्माल्यद्रव्य उस निर्माल्यकूटमें डालना या उपाध्याय, पुजारी, माली, व्यास, गोठी इत्यादि मंदिरोंके नौकरोंको देकर उनके पास मंदिरकी पूजा नौकरी करालेना इनमेंसे कौनसी बात शास्त्र संमत है इतने ऊपर पंडितोंके विचार प्रसिद्ध होनेकी जरूरत है।

ता० २४-९-२१.

हिराचंद नेमचंद, सोलापुर।

होता है सो "पूजनके अंतमें जिन अनेक द्रव्योंसे अनेककुंडोंमें हवन किया जाता है वे द्रव्य शांतिधारा छोडनेके कारण अंतमें अर्घ द्रव्य रह जाते हैं। ऐसा पत्र ८ में पंडितजी लिखते हैं उस शांति-धाराके बाद होता है। देखिए शांति-धाराका श्लोक-

प्रध्वस्तघातिकर्माणः केवलज्ञानभास्कराः।
कुर्वंतु जगतः शांतिं ऋषभाद्या जिनेश्वराः॥

ऐसा शांतिधाराका श्लोक कह कर शांतिधारा छोडे पीछे पुष्पांजलि देकर विसर्जन करते हैं, उसके श्लोक इस मुजब-

आहूता ये पुरादेवा लब्धभागा यथाक्रमात्।
ते जिनाभ्यर्चनं कृत्वा सर्वे यांतु यथास्थितिं॥
आव्हाननं न जानामि नैव जानामि पूजनं।
विसर्जनं न जानामि त्वं सिद्ध परमेश्वर॥
मंत्रहीनं क्रियाहीनं द्रव्यहीनं कृतं मया।
तत्सर्वं पूर्णतामेतु त्वत्प्रसादाज्जिनप्रभो॥

ऐसा विसर्जन हुये बाद मूर्तिको उठाकर जहांकी वहां रख देते हैं। और पूजन हवन समाप्त हुवा ऐसा कह कर सब चले जाते हैं,। जैसा सभाका काम संपूर्ण होने बाद सभा विसर्जन हुई ऐसा सभापति कह देते हैं और उठ कर सभा मंडपको छोड़कर चलने लगते हैं उस बखत सभी लोग उनके पीछे चले जाते हैं।

इस मुजब पूजन हवन पूर्ण हुये बाद विसर्जन होता है इतना सिद्ध-हुवा, तो फिर निर्माल्य द्रव्य पर भगवान्का हक्क सिद्ध हो चुका उसको बीचमें कोई लेगा तो उसने देवपूजामें विघ्न किया ऐसा विघ्नकरणत्व हेतु सिद्ध हुवा। कदाचित् विघ्नकरणत्व हेतु सिद्ध नहीं भी हुवा तो भी पूर्व सूत्रमें 'इति' शब्दकी अनुवृत्ति लेकर वार्तिककारने 'द्रव्यपरित्याग' इत्यादि विघ्नकरणत्व हेतु न होनेपर भी अंतराय कर्मके आस्रवोंके कारणोंमें लिये हैं। वैसा निर्माल्य ग्रहण करनेमें विघ्नकरणत्व हेतु न होने पर भी उससे अंतराय कर्मके आस्रवोंके कारणोंमें गिना है, अत-

चोद्यते सूत्रेनुपात्तः सर्वास्रवप्रपंचः कथमेवगंतुं शक्यते ? इत्यत्रोच्यते– इति करणानुवृत्तेः सर्वत्रानुक्तसंग्रहः ॥ ३ ॥ इति करणानुवर्तते । क्व प्रकृतः ? क्षांति शौचमिति सद्वेद्यस्येत्यतः तेनानुक्तार्थ संग्रहः सर्वत्र वेदितव्यः । प्रकारार्थो हि इति कारण इति ।

इस विषयमें पं० वल्लाप्पा निटवे इस मुजब लिखते हैं–अंतराय कर्मास्रवत्वाला विघ्नकारणत्व हाच जर हेतु असतां तर वार्तिककारांनीं संग्रहीत अंतरायास्रवांपैकी ' द्रव्या परित्याग प्राणिवधादि ' अनेक आस्रवांना विघ्नकरणत्व नसताहि अंतरायास्रवत्व अभ्युपगत केलें आहे तें प्रमादाचें होईल. बरें, द्रव्या परित्यागादि कर्मांचें ठायींहि विघ्नकरणत्व आहे म्हणावें तर ' विघ्नकरणं ' या शब्दाने विघ्नकरणत्वा वच्छिन्नाचा संग्रह झाला असता परंतु ' अत्र चोद्यते ' असें म्हणून वार्तिककारांनी केलेल्या आक्षेपाच्या समाधानांत ' इति ' शब्दाची अनुवृत्ति लिहिण्याचें कारण नव्हतेः या करितां असेंच म्हटलें पाहिजे की, विघ्नकरण कर्में व आचार्यांनीं संग्रहीत दुसरीं कर्में ही दोन्हीं हि अंतराय कर्म निरूपित आस्रवता विशिष्ट आहेत. केवळ विघ्नकरणत्वाळा आस्रवत्वानुमापकत्वही नाहीं व आस्रवलक्षणत्वहि नाहीं. तेव्हां निर्माल्यग्रहण अनिवेद्य पदार्थग्रहण स्वरूप कर्म असल्यानें अंतराय कर्मास्रवच होतें.

आता 'विघ्नकरणमंतरायस्य' या सुत्रात् वार्तिककारांच्या लिहिण्या प्रमाणें 'इति' शब्दाची अनुवृत्ति (क्षांतिः शौचमितिसद्वेद्यस्य या सुत्रावरून) करावयाची असल्यानें केवळ 'विघ्नकरणत्व' हा हेतु आस्रवत्व साधक नव्हे. तर 'विघ्नकरण इति शब्दसंग्रहीत निवेद्यानिवेद्यग्रहणादिकर्मान्यतमत्व' हा हेतुहि आस्रवत्व साधक आहे. व तो प्रकृतोद्देश्यभूत निर्माल्य ग्रहणात्मक कर्माचे ठायीं असल्यानें दोषीली शास्त्रीच्या म्हणण्या प्रमाणें स्वरूपासिद्ध नांवाचा हेत्वाभास होत नाहीं. तसेंच ऊर्ध्व निर्दिष्ट हेतु हेच आस्रवाचें लक्षण असल्यानें निर्माल्य ग्रहणरूप कर्माचे ठायीं त्याची अव्याप्तिहि येत नाहीं.

इत्यलं विस्तरेणेति विरम्यते ॥

कल्लापा भरमाप्पा निटवे.

इस मुजब पं० कल्लापा निटवे कर्नाटक देशके होकर भी निर्माल्य द्रव्यके ग्रहणसे अंतरायकर्मके आस्रव होते हैं ऐसा शास्त्रार्थ करके सिद्ध करते हैं। निर्माल्य द्रव्य पुजारी-उपाध्यायको ग्रहण करनेसे और भक्षण करनेसे उनको दोष नहीं है ऐसा स्याद्वाद किसी भी पंडितने स्थापन नहीं किया है। फकत पंडित बनसीधरजीकी ही यह अपूर्व नयविवक्षा है।

पत्र १२ में पंडितजी लिखते हैं कि उपाध्याय वर्गके कुछ लोग देवपूजन करनेसे घृणा करने लगे हैं और अपनी उन्नतिके लिये आनुवंशिक कर्मको छोडकर वैद्यक व्यापार आदिके व्यवसायोंमें लग रहे हैं। " इत्यादि। इसपरसे पंडितजी ऐसा चाहते हैं कि, उपाध्याय वर्गके पुत्रोंने अधिक कमाईकी विद्या पढना नहीं और अधिक कमाईके व्यवसायमें लगना नहीं-पं० गोपालदासजी कहते थे कि दक्षिणके उपाध्यायके लड़के जो विना पढ़े देखनेमें आये हैं उनको काव्य, व्याकरण, न्याय, जैन सिद्धांत, वैद्यक, गणित इत्यादि विषय पढाओ जिससे दक्षिणका अज्ञान दूर हो कर वहां भी उत्तरके माफिक शास्त्र स्वाध्याय, शास्त्रसभा, शास्त्रचर्चा गांवगांवमें देखनेमें आ जायगी। इस उपदेशसे ही कोल्हापुर, मूड़बिद्री, म्हैसुर, श्रवणबेलगुळ इत्यादि जगहमें पाठशालाएं खुली और उनमेंसे कई उपाध्याय मोरेना, बनारस इत्यादि पाठशालामें पढ कर विद्वान् निकले जिसमें वासुदेव शास्त्री, बाहुबलि शर्मा, कल्लाप्पा अनंत उपाध्याय, शांतराजय्या, कुमारय्या ये तो पढाईका और मंदिरमें शास्त्र बाचनेका काम कर रहे हैं। और श्रीपाल वैद्य, आप्पाराव वैद्य, भरमण्णा वैद्य इत्यादि कई पवित्र औषधालय चला रहे हैं। उनको पुजारीपनामें जो कमाई होती थी उससे चौगुनी कमाई हो रही है। सो पंडितजीकी दृष्टिसे समाजका बड़ा नुकसान हुवा होगा। लेकिन सब भारतवर्षके स्त्री पुरुषोंको जबरीन विद्या पढ़ाना और उनका दारिद्य दूर करना उनको अज्ञानताके पशुपनेसे छुडाना यह बात आज भारतवर्षके मुखिया और जैन सभाएं पुकार पुकारके चिल्ला रही हैं सो पंडितजीके हिसाबसे सब अवनति ही है। हां, कई लोग पंडितजीके

माफक कहते देखनेमें आते हैं कि यदि इस वख्त ही हमको नौकर आदमी मिलते हैं तो फिर सब लोग लिखेपढे हो गये पीछे बड़ी मुश्कीलीसे नौकर तो मिलेगा ही नहीं और मांडे बर्तन हाथसे मांजना पड़ेंगे सो बड़ी फिकर आन पडेगी ! !

पूजन उपाध्यायके हाथसे कराना या अपने हाथसे करना इस बारेमें शास्त्राज्ञा क्या है सो पंडितजीको बताना चाहिये था। अपने हाथसे पूजन करना चाहिये सो ही सच्ची भक्ति है ऐसी शास्त्राज्ञा जगह जगह देखनेमें आती है। और उपाध्याय पुजारीके हाथसे पूजन कराया सो माडोत्री पूजा है ऐसा श्री ऐल्लक पन्नालाल महाराज आदि कहते हैं। तो फिर पंडितजी उपाध्यायके हाथसे ही पूजन करानेके लिये इतना महत्व क्यों देते हैं मालुम नहीं होता।

देवपूजा यह श्रावकोंके नित्यकर्मोंमेंका एक कर्म है। यदि देवपूजा आप न करके उपाध्याय पुजारीके हाथसे कराना चाहिए ऐसा कहोगे तो 'गुरूपास्ति' यह दूजा नित्यकर्म भी दूसरे कोई नियोगीके हाथसे करना पडेगा वैसा ही तृतीय नित्यकर्म स्वाध्याय, और चौथा संयम, पांचवां तप और छट्ठा दान, ये भी अन्य आदमियोंके हाथसे ही कराने पडेंगे। वाहवा ! ये तो बहुत ही अच्छा हुवा !! सभी षट्कर्म परभारे हो चुके ! धर्म कायम रखनेका बहुत सुलभ उपाय मिल गया !!!

ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी लिखते थे कि, निर्माल्य-द्रव्यकी चर्चा ऊपर पंडित लोग कुछ लिखते नहीं सो खेदकी बात है। लेकिन अब पंडित लोग लिखने लगे यह हर्षकी बात हुई है। पं० बनसीधरजीने संस्कारकुट माने निर्माल्यकुटमें अग्नि होती है यह बात मान्य की है और उसमें पूजनसे बचे हुवे द्रव्यसे हवन करना चाहिये इतना मान्य किया। अब सिर्फ निर्माल्यद्रव्य उस निर्माल्यकूटमें डालना या उपाध्याय, पुजारी, माली, व्यास, गोठी इत्यादि मंदिरोंके नौकरोंको देकर उनके पास मंदिरकी पूजा नौकरी करालेना इनमेंसे कौनसी बात शास्त्र संमत है इतने ऊपर पंडितोंके विचार प्रसिद्ध होनेकी जरूरत है।

ता० २४-९-२१. हिराचंद नेमचंद, सोलापुर।

अग्निकुण्डांत पूजन करण्याविषयीं दुसरा आधार.

[प्रगति आणि जिनविजय–आषाढ वद्य १ शके १८४२]
(ता. २ जुलई सन १९२०)

श्रीयुत संपादक ' प्रगति आणि जिनविजय ' यांस–

जयजिनेंद्र वि० वि०—खालील मजकूर येत्या अंकीं प्रसिद्ध करण्याची मेहेरबानी करणें.

तथा तीर्थगणाधीशशेषकेवलिसद्वपुः ।
संस्कारमहितार्ग्नींद्रमुकुटोत्थाग्निषु त्रिषु ॥ २०४ ॥
परमात्मपदं प्राप्तान्निजान् पितृपितामहान् ॥
उद्दिश्य भाक्तिकाः पुष्पगंधाक्षतफलादिभिः ॥ २०५ ॥
आर्षोपासक वेदोक्तमंत्रोच्चारणपूर्वकम् ॥
दानादि सत्क्रियोपेतागेहाश्रम–तपस्विनः ॥ २०६ ॥
नित्यमिष्ट्वेंद्र सामानिकादिमान्यपदोदिताः ॥
लौकांतिकाश्च भूत्वामरर्द्धिजाध्वस्तकल्मषः ॥ २०७ ॥

अर्थः—तीर्थंकर गणधर आणि शेष केवलि यांच्या उत्तम देह-संस्कारामुळें पूज्य व अग्निकुमारेंद्राच्या मुकुटापासून उत्पन्न झालेले तीन अग्नि आहेत. या अग्नींत महाभक्त व दान वगैरे उत्तम क्रिया करणारे गृहस्थ=तपस्वी ह्मणजे परमात्मपदास (सिद्धपदास) पोहोंचलेले जे आपले पिता पितामह त्यांना उद्देशून ऋषिप्रणीत उपासकाध्ययन नांवाच्या

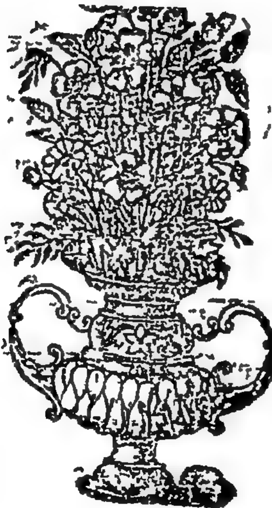
वेदांत सांगितलेल्या मंत्रांचा उच्चार करून पुष्पगंधअक्षतफल इत्यादि. कानीं जी नेहमीं आहुती देणें याला दुसरा आर्ष-यज्ञ म्हणतात.

असा यज्ञ करणारे लोक इंद्र, सामानिकआदि पूज्यपदास जा- तात. तसेंच ते देवब्राह्मण-लौकांतिकदेव-होतात. आणि शेवटीं कर्म- रूपी पाप नाश करून मुक्त होतात.

(उत्तरपुराण सार्थ हिंदी पर्व ६७ पृ० ३३८)

ता. १२ जून
सन १९२०

रावजी सखाराम दोशी
सोलापूर.



निर्माल्य द्रव्य-चर्चा ।

[जैनमित्र-द्वि० श्रावण वदी ६ वीर सं. २४४६]

(ता. ५ आगस्ट १९२०)

निर्माल्य द्रव्य ग्रहण करना पाप है ऐसा जैन शास्त्रमें कहा हुवा आपको मान्य है क्या ? ऐसा प्रश्न पं० बनसीधर उदयलालको किया था जिसका उत्तर उन्होंने दिया कि-ऐसा जैन शास्त्रमें कहा नहीं है ।

लेकिन तत्वार्थ सार अ० ४ पृ० २१५ में अंतराय कर्मके आस्रव हेतु कहते हुवे- " प्रमादाद्देवतादत्त नैवेद्य ग्रहणं तथा० " इस श्लोकका अर्थ पं० बनसीधर उदयलाल लिखते हैं कि " नैवेद्य देवको समर्पण कर देनेपर फिर वह लोभवश होकर उठालेना + + + + ये सब कार्य अंतराय कर्मके आस्रव कारण हैं । " और समर्पण शब्दपर नोट देकर आप लिखते है । ' देवताको समर्पण कर दी गई खानेकी चीजोंको प्रमादवश होकर ग्रहण करनेवाला अंतराय कर्मको बांधता है ऐसा इस ग्रंथमें लिखा । परन्तु राजवार्तिकमें अर्पित अनर्पित दोनोंको ही लेनेवाला अंतरायकर्मका भागी लिखा है । और वह भी नैवेद्यही नहीं किंतु कोई भी चीज हो । अर्पणका अर्थ पूजा है । अर्पण न की हुई-देवद्रव्य-वह समझनी चाहिये कि जो देव देवालयके उपयोगके लिये जमीन या घर, संपत्ति इकट्ठी की जाती है । " ऐसा तत्वार्थ सारके श्लोकोंका अर्थ खुद पं० बनसीधरजी उदयलालने लिखा है । और श्रीसकलकीर्ति आचार्य कृत सद्भाषितावलीमें निर्माल्यत्यजन वर्णन नामक प्रकरणमें " देवशास्त्र गुरूणांभो निर्माल्यं स्वीकरोति यः ॥ वंशच्छेदं परिप्राप्य सपश्चाद्दुर्गतिं व्रजेत् ॥ " इत्यादि पाच सात श्लोक निर्माल्य ग्रहणका पाप बतानेवाले जगनाहेर हो कर भी पंडितजी कहते हैं कि " ऐसा जैन शास्त्रमें कहा नहीं है " इसका सबब क्या ?

रावजी सखाराम दोशी, सोलापुर ।

निर्माल्य-विनियोग चर्चा.

(जैनसिद्धान्त–आषाढमास वीर.सं. २४४७, जुलाई १९२१)

निर्माल्यके विषयमें जो हमने एक लेख प्रकाशित किया था उस॰ पर श्रीयुत सेठ हिराचंद नेमचंद सोलापुरवालोंने कुछ प्रश्न किये हैं उनका सविस्तर उत्तर आगामी अंकमें प्रकाशित करेंगे परंतु यहांपर एक दो जरूरी बातोंपर विचार प्रकाशित करते हैं.

सेठजीने एक आक्षेप यह किया है कि–तत्वार्थसारका जो अर्थ कुछ दिन पेस्तर इन्होंने लिखा था उसमें और अबके इनके लेखमें जो उसकी एक कारिकाका अर्थ लिखा गया है उन दोनोमें परस्पर फर्क पडगया है. यह सेठजीका लिखना पक्षपात मात्र है. हमारे अर्थ लिख॰ नेमें बिलकुल फर्क नहीं पडा.

बात यह है कि तत्वार्थसारमें अंतरायके कारणोंका जहां प्रकरण है वहां अंतरायका मुख्य कारण विघ्न करना बताया है. यह लक्षण ऐसा सामान्य है कि अंतरायके चांहे जिस विशेष कारणमें विघ्न करना किसी कारणसे सिद्ध होता न हो तो वह अंतरायका कारण कभी नहीं होसकता. मूल लक्षण दिखानेवाले श्रीतत्वार्थसूत्रजीमें भी इसी गरजसे अंतरायका लक्षण विघ्न करना लिखा है. इसलिये यह सिद्ध हुआ कि इसके पेटेकी जितनी कलमें होगी वे सब विघ्न करनेवाले लक्षणको जरूर रक्खेंगी.

इस अंतरायके पेटेकी एक कलममें बताया है कि निर्माल्य ग्रह॰ णसे अंतरायकर्मका बंध होता है. इस पेटेकी कलमका ऐसा अर्थ कौन न करेगा कि यह कलम पेटेकी है इसलिये विघ्न करनेरूप अंतरायका सामान्य लक्षण इसमें भी गर्भित है. यह बात सेठजीको मालुम है कि पेटेकी कलमोंमें सिरेके खतेका नाम खोलनेकी जरूरत नही पडती तो

भी देखनेवाला सिरेके खातेको उस पेटेमें समझ जरूर लेता है. यह बात तब होसकती है जब कि पूरा खाता सामने मौजूद हो. जब पूरा खाता सामने न हो किंतु पेटेकी एक कलमकी रकम ही किसीको लिखकर बतानी हो तो वहां खातेका खुलासा नाम भी बताना पडता है इसी तरह जब तत्त्वार्थसार हमने पुरा लिखा था तब अंतरायका खाता सिरेपर बताकर पेटेकी कलममें विघ्न करनेरूप खातेका नाम पुनः न लिखकर फक्त यह लिख दिया था कि निर्माल्य ग्रहणसे अंतरायका बंध होता है. परंतु जब लेखमें खाता सामने नहीं था तब उस कारिकाका अर्थ बताते हुए खाता भी बतादिया कि निर्माल्य ग्रहणसे तभी अंतराय कर्म बंधेगा जब कि किसीको उससे विघ्न होना संभव हो.

पाठक विचार करें कि इस प्रकार हमारे दोनोंवारके लेखमें फर्क या विरोध क्या पडगया ? सेठजीको ऐसा अर्थका विपर्यास करना मुनासिब नहीं है.

दूसरी बात इस विषयमे यह कहनी है कि सेठजी जो हमको इस निर्माल्यके लेखके कारण कषाय पुष्ट किया बताते हैं सो ठीक नहीं है. अपने दोषको दूसरेपर डालना ठीक नहीं है. हम द्रव्य पूजाके समर्थक होनेसे थोडा तो भी द्रव्य पूजामें खर्च करेगे परंतु सेठजी निषेधक होनेसे अग्नि कुंडका उन्हें जन्मभरमें एक दो वार ही मौका मिला होगा इसलिये सेठजी बिलकुल ही सूखा नमस्कार करनेवालोंमेंसे एक हैं. इसलिये सरासर अपनेपरका मिथ्या आक्षेप हमारे उपर करनेका साहस सेठजी आयंदेसे न करें तो ठीक है.

निर्माल्य विचार.

[जैनसिद्धांत-श्रावणमास वीरसं. २४४७ आगष्ट १९२१]

हमने निर्माल्य द्रव्यका क्या किया जाय इस प्रश्नका उत्तर अपने-निर्माल्य विनियोग लेखमें किया था, उसपर सोलापूरके श्रीयुत सेठ हिराचंद नेमचंदजी कुछ आक्षेप करते हैं. हमारा अभिप्राय यह था कि देवस्थानोंमें जो लोग निरंतर काम करते हैं और उनकी आजीविकाका दूसरा कोई साधन नहीं है उन्हें निर्माल्य द्रव्यपर पेट भरके इस काममें लगे रहना चाहिये या नहीं; एवं, यदि वे उसमें लगे रहें और निर्माल्यपरसे पेट भरा तो उन्हें जैनधर्मी न कहकर पातकी कहना चाहिये या उस अवस्थामें वे जैनधर्मसेवी होसकते हैं ? यह एक प्रश्न हुआ.

दूसरा प्रश्न यह कि यदि निर्माल्यपर पेट भरनेवाला अधर्मी समझा जाता है ऐसा समझकर देवस्थानके कामको वे लोग छोड दें और दूसरा भी कोई इसी कारण वह काम न करे तो वह काम कैसे हो ? इसीसे लगता तिसरा प्रश्न यह है कि क्या उस कामको करनेवालेकी उपजीविका किसी दूसरी तरहसे निर्विघ्न सदा चल सकती है जिससे कि उस उपजीविकासे निराकुलताके साथ निर्वाह कर वह मनुष्य देवकार्यमें लगा रहे और काममें विघ्न न पडे ?

इन प्रश्नोंके उत्तरमें हमने अपने लेखमें यह बताया था कि निर्माल्य ग्रहण करनेसे वह पापी नहीं होजाता. पापीका अर्थ हिंसा, झूट, चोरी मैथुन व इतर वस्तुओंमें उत्कट लालसा रखना है. संक्षेपमें पाप समझना हो तो अन्यायका नाम पाप है. उसी अन्यायके झूट चोरी आदि पांच भेद हैं. निर्माल्य ग्रहण जो देवस्थानकी सेवाके बदले है वह अन्याय नहीं है. "धर्मो दयार्द्रचित्तत्वमन्यायः प्राणिमारणं" ऐसा

अन्यायका लक्षण भगवज्जिनसेनने बताया है; इसका भी यही तात्पर्य है. क्योंकि अन्यायसे दूसरेका अहित होता है. और अपनी निष्ठुर वृत्ति होनेसे अपना भी अहित होता है. यह धर्मशास्त्रकी अपेक्षा अर्थ है और व्यवहारकी अपेक्षासे राजनियमविरुद्धको अन्याय कहते हैं.

उक्त सेठजीने भी पांच पापोंका यह तात्पर्य बताया है कि सबसे बडे ये ही पाप हैं और इनके छोडनेसे मनुष्य किसी प्रकारके राजदंडमें भी फस नहीं सकता; इससे मालुम होता है. कि सेठजी भी मुख्य पाप पांच ही मानते हैं. अब सवाल यह होजाता है कि निर्माल्यग्रहणको यदि पाप मानें जैसा कि ग्रंथकारोंने बताया है तो उसे उक्त पांच पापोंमे गर्भित करलेना चाहिये या नहीं ? धर्मशास्त्रोंका उपदेश देखनेसे पता लगता है कि पांचके सिवा छट्ठा पाप कोई नहीं है; तो फिर इसे भी किसीमें गर्भित करना ही होगा. इसीलिये हमने अपने लेखमे बताया था कि राजवार्तिककारके कथनानुसार अंतराय—विघ्नका कारण होनेसे चोरीमें इसे गर्भित करना चाहिये. यदि यह विघ्न करनेका कारण है तो किसीका विघ्न हो तभी चोरीमें इसे सामिल किया जाय, नहीं तो नहीं. इसीसे नियोगी मनुष्य चोरीके दोषसे बच जाता है, यह हमने दिखाया था.

इस मार्मिक बातपर एक भी अक्षर न लिखकर इंदोरसे गोधाजी कोसने लगे और आपने स्वयं इसके विषयमें एक भी युक्ति न देकर केवल यह सर्टिफिकेट दे दिया कि ये इनकी कुयुक्ति हैं. गोधाजीको और सेठजीको मालुम होना चाहिये कि हमने जो चोरीमें गर्भित करते हुए नियोगीको उससे छुटादिया है वह विना आगमयुक्तिके कोसने और सर्टिफिकेट देनेसे खंडित नहीं हो जायगा. जिसमें हिंमत हो उन्हें चाहिये कि पांच पापोमेंसे किसीमें गर्भित करके दिखावें और हमारे समर्थनको प्रदोष ठहरावें ' उपाध्यायपुजारीनिवेद्याजिवेद्य ' लिखकर सेठजी विद्वानोंमें हसी कराते हैं और यह पता लगजाता है कि

सेठजीको शब्दोंका परस्पर कारकसंबंध बिलकुल मालूम नहीं है. क्या हमारे लेखका यह तात्पर्य है कि उपाध्यायको द्रव्य अर्पण किया जाता है?

जिसे हम कूडा समझते हैं वह त्यागयोग्य होजानेसे उसे दूसरा कोई लेले तो हमारी उसने कोई चोरी नहीं की, इसी प्रकार देवताको अर्पित द्रव्य बादमें देवकी अपेक्षासे कूडा है–त्याज्य है; इसलिये उस देवत्याज्यको जो अपने काममें लेलेता है. वह देवकी चोरी करनेवाला नहीं कहा जासकता ऐसी हालतमें उसे किसका विघ्न करनेवाला कहें इसका शेठजी और गोधाजी उत्तर दें. यह भी वे उत्तर दें कि विघ्न करनेका अर्थ न ठहरता हो तो भी क्या अंतरायका उसके ग्रहणसे बंध होगा ही? इसे जो अंतरायका कारण बताया है वह क्या विना ही हेतुके बताया है? क्या अंतरायका सामान्य लक्षण इसमें नहीं घटता? नहीं घटता तो क्यों 'विघ्नकरणमंतरायस्य' इसी सूत्रकी व्याख्यामें इसे लिखा है? विघ्न होता है तो किसका और कैसे? यह सब उत्तर देना सेठजीकी तर्फ है.

शेठजीने कुछ श्लोक इस बातके उद्धृत करके दिखाये हैं कि जुदे जुदे देव भगवानकी पूजा भक्तिके नियोगी हैं परंतु वे निर्माल्य ग्रहण नहीं करते. इसका उत्तर यह है कि विना भोजनकी फिक्र किये देव नियोगी होसकते हैं परंतु मनुष्य नहीं होसकते मनुष्य पेटका नियोग पेस्तर करता है. पीछे दूसरी बात यदि पेटकी चिंता किये विना भी मनुष्य इतर नियोगमें लग सकता होता तो असि मसि आदि नियत नियोग करनेकी जरूरत ही न पडती. मुनियों तकको दान लेनेकी जरूरत पडती है. कुछ लोग धर्मके लिये दान देते हैं और कुछ लोग लेनेके योग्य होते हैं; यह विधि मार्ग है और कर्तव्य धर्मका स्वरूप है. परंतु जिन्हें कोई पात्र भी मानता नहीं है और देवकी सेवा करना अपना कर्तव्य जिन्होंने वंशपरंपरासे समझही रक्खा है वे उस कर्तव्यसे

विमुख हो जाय यह अच्छा या निर्माल्यसे निर्वाह करके सेवामें लगे रहें यह अच्छा ?

हम समझते हैं कि निर्माल्यसे निर्वाह करके भी जो आनु- वंशिक धर्मको छोडते नहीं हैं यह अच्छा है आज गृहस्थ लोग कृपण होगये इसलिये उनको सत्कारके साथ देकर निर्वाह भी नहीं करानेकी फिकर करते हैं और उधर वे विचारे निर्माल्यपर निर्वाह करके भी सेवामें लगे रहे हैं, इस बातको उनकी निंदा करते हैं यह आपनेलिये भूषण नहीं है ये वे गृहस्थ हैं जि- नको कि भरत महाराजने धनधान्यसे पूजा कर इस धर्ममें दृढ किया था. आज हमारी यह कुतर्क और कृपणता उनको मदत तो दमडीकी नहीं हो करने देती परंतु यथातथा वे जन अपने नियोगमें लगरहे हैं उनको उनमें विमुख करडालनेका हम प्रयत्न करते हैं जहां ये लोग नहीं है ऐसे प्रांतोंमें पूजाका बारबार कैसा फजिहता होता है सो अनुभव करनेसेही मालूम होसकता है.

इस वक्त भावना चाहे जैसी हो परंतु वस्तुस्थिती ऐसी है कि ये लोग पूजा करें और अपन इनकी गृहस्थीका निर्वाह चलाने योग्य दान दें तथा घरद्वार कायम करते रहें. अपन इस बातको भूलगये भरतचक्रीने धर्मा त्मा समझ उनको धनधान्य नहीं दिया जो कि राजा महाराजा थे किंतु यज्ञ पूजामें जो लगे रहनेके कारण उदरनिर्वाहकी कुछ खटपट नहीं कर सकते थे उन्हें निर्वाहके योग्य सब कुछ दिया विचार करनेकी बात है कि जिनके हजारो वाहन हों ऐसे राजाओंको वाहन क्या दिये जांय गे और वेभी धर्मकी रक्षाके हेतु । इससे स्पष्ट होता है कि जो धर्ममें आसक्ति रहनेके कारण अपना निर्वाह स्वयं नहीं कर सकते थे उन्हींको भरतने सब कुछ दिया और प्रजासे दिलानेकी रिवाज डालदी आज उनके हम जैन कहानेवाले रहा ठहा भी छुडा लेना चाहते हैं. तभी तो धर्मकी यह दशा है !

जब वे लोग पूजा करनेके नियोगी हैं तो इस पूजाकी सामग्रीपर उनका हक भी सुतरां होजाता है कि वे चांहे सो उसका करें जब उन्हें श्रावक लोग पूजते थे तब वे इस सामग्रीका चांहे सो करते होंगे परंतु जब श्रावकोंसे निर्वाह न होसका तबसे वे उस सामग्रीको अपने काममें लाने लगे. कोई समय ऐसा भी बीता है जब कुछ श्रावकोंने उन्हें पूजना भी छोडदिया हो और सामग्री स्वयं लेना चांहा हो; उस समय 'श्रावककों उसका अधिकार नहीं.' ऐसा निषेध किया गया हो और निर्माल्य ग्रहणसे अंतरायका बंधन होना बताया गया हो नहीं तो अंतरायके बंधका कारण होना किस प्रकार संभव होगा, वह सेठजीको बताना चाहिये. नियोगीका अर्थ सेठजीकी समझमें नहीं आया इसलिये हमने यह बताया है. अपने मनसे नियोग नहीं ठहरता, भरत और आदिनाथ महाराजने उन्हें और आपनेको जो कर्म करना बताया है वह उसका नियोग है.

निर्माल्यद्रव्य-चर्चा.

(प्रगति आणि जिनविजय-मार्ग शु० १ वीर सं० २४४८, ता. ३०।११।२१.)

पुष्कळ दिवसापासून निर्माल्यद्रव्यचर्चा चालू आहे; परंतु याचा विनियोग (उपयोग) कसा करावा याचा निकाल अद्यापि लागलेला नाहीं. तथापि हा प्रश्न अत्यंत महत्वाचा होऊन बसला आहे. या संबंधी एक लेख पं० वंशीधर यांनीं जैनसिद्धांत मासिक वीर सं. २४४६ भाद्रपदमास अंक २ मध्यें 'निर्माल्यका विनियोग' या नांवानें प्रकाशित केला आहे. त्यातील अभिप्राय असा आहे कीं, निर्माल्यग्रहण करण्याचा हक्क फक्त उपाध्यायवर्गास आहे. कारण देवाची पूजा केल्याबद्दल श्रमाचा मोबदला ह्मणून हें द्रव्य त्यास दिलें जातें. व त्यांचें घेणें हें

त्यावास अनुसरून आहे. नियोगीशिवाय (उपाध्यायाशिवाय) इतरांस घेण्याचा अधिकार नाहीं. ग्रहण केलें असतां दुर्गति प्राप्त होते. पूर्वपरंपरेस अनुसरून उपाध्यायवर्ग निर्माल्य ग्रहण करीत असतां, त्यामध्यें जो कोणी विघ्न करील त्यास अंतराय कर्माचें आस्रव येतात.

पंडितजींनीं नियोगी याचा अर्थ देवसेवा करणारा उपाध्यायवर्ग असा केला आहे. तर देवाची सेवा करणारे उपाध्यायलोकच आहेत, इतर नाहींत काय? अर्थात् सर्व देवसेवा करणारे आहेत. मग सर्वांनीं निर्माल्य भक्षण करावें काय? देवसेवेचा अधिकार फक्त उपाध्यायास दिला आहे असें शास्त्रांत कोठेंहि सांपडत नाहीं व तो माहीत असल्यास पंडितजींनीं प्रसिद्ध करावा अशी त्यांना आमची सविनय सूचना आहे.

केवळ रूढीवरून देवसेवेचा मक्ता उपाध्यायास देणें कधींहि योग्य होणार नाहीं असें कोणीहि समंजस माणूस कबूल करील. कारण पूजनाचें कार्य स्वतः केल्यानें जितकी फलप्राप्ती होते तितकी दुसऱ्याच्या हातून केलेली पूजा (भाडोत्रीपूजा) फलदायक होत नाहीं ही गोष्ट सूर्यप्रकाशाइतकी स्पष्ट आहे.

वास्तविक पाहता आपल्या समाजांत अज्ञान जास्त असल्यामुळें लोकांना पूजा कशी करावी व त्याचा विधि कसा आहे हें समजत नाहीं, अथवा प्रपंचामध्यें सवड होत नसल्यामुळें उपाध्यायाकडून पूजा करविण्याचा प्रघात पडला असावा असें आम्हांस वाटतें. अद्याप देखील कित्येकांस देवापुढें नीट अर्घ्यसुद्धां देतां येत नाहीं ही शोचनीय स्थिती सर्वत्र दृष्टीस पडत आहे हा प्रघात जर असाच चालू राहील तर यापेक्षां पूजनाविषयीं जास्त अज्ञान वाढण्याचा संभव आहे. याकरितां प्रत्येकानें स्वतः पूजा केली पाहिजे. कारण श्रावकांचीं सहा कर्तव्य शास्त्रांत सांगितली आहेत, त्यापैकीं जिनपूजा हें पहिलें कर्तव्य आहे व तें पाळणें अशक्य झाल्यास बाकीचीं कर्तव्यें कशीं पाळणार? याकरितां प्रत्येकानें पूजा करावयास शिकणें अत्यंत जरूर आहे अशी सर्वांस आमची नम्र

प्रार्थना आहे या योगानें उपाध्यायाचे सुद्धां श्रम वांचतील. पूजा करणाचें सामर्थ्य असणें असें काहीं दिवसांनी समाजाच्या अंगीं आल्यावर उपाध्यायाच्या पिढीजाद हक्कावर मात्र गदा येणार याची वाट काय ! याचें उत्तर असें आहे कीं, देवळांतील मूर्तिपूजा करण्याचें काम उपाध्यायांस निर्माल्या ऐवजीं पगार देऊन करून घ्यावें त्या योगानें निर्माल्य भक्षण च्या पापापासून उपाध्यायाचा बचाव होईल. पंडितजींनीं असें म्हटलें आहे कीं, 'निर्माल्य द्रव्य सर्वास त्याज्य आहे परंतु नियोगी म्हणजे पुजाऱ्यास त्याज्य नाहीं. त्याप्रमाणें सर्प सर्वांस भयंकर आहे परंतु गरुडास नाहीं.

पंडितजींनीं पुजारी लोकांस गरुडाचा दृष्टांत दिला आहे; परंतु तो येथें बरोबर लागू पडत नाहीं हें एकदां नीट विचार केला असतां सहज समजण्यासारखें आहे गरुड आणि सर्प यांचा नैसर्गिक स्वभाव अगदीं भिन्न आहे या दोघांच्या स्वभावामध्यें बदल करावा असें कोणी मनांत आणिल्यास तें होणें अशक्य कोटींतील आहे. कारण निसर्गामध्यें केव्हांहि बदल होत नाहीं असा सृष्टिशास्त्राचा नियम आहे. त्याप्रमाणें पुजाऱ्याचा पूजन करणें हा नैसर्गिक धर्म नव्हे कारण त्याचा गुण उपाध्यायाशिवाय इतराच्या अंगींदेखील असतो. देवसेवा हा गुण सर्वांस साध्य होण्यासारखा आहे जसें गरुडाचें सामर्थ्य सर्पाच्या अंगीं येत नाहीं त्याचप्रमाणें पूजनाचें सामर्थ्य दुसऱ्याच्या अंगीं येणार नाहीं म्हणूनच कीं काय उपाध्यायास निर्माल्य त्याज्य नाहीं असें विधान केलें आहे ? परंतु हे विधान कोणत्या शास्त्रांत लिहिलें आहे. याचा खुलासा पंडितजींनीं करावयाचा होता म्हणजे त्याचें म्हणणें आम्हांस पटलें असतें.

केवळ युक्तीनें कोणत्याहि गोष्टी विधानास पात्र होत नसतात, त्यास शास्त्रवचनांची आवश्यकता असते दुसऱ्यांनीं आधार दाखविला असतां तो यांना पटत नाहीं. लागलेच त्याचा विपर्यास करतात.

सोलापूर येथील सुप्रसिद्ध पुढारी गुरुवर्य शेट हिराचंद नेमचंद यांनीं 'निर्माल्यद्रव्यचर्चा' या पुस्तकामध्यें कुंदकुंदाचार्य, उमास्वामी, अकलंकदेव, अमृतचन्द्राचार्य आणि सकलकीर्ति वगैरे आचार्यांच्या शास्त्रांतील प्रमाणें दाखविलीं आहेत तीं पंडितजींना मान्य आहेत. शेवटीं त्यांनीं असें सिद्ध करून दाखविलें आहे कीं, निर्माल्य भक्षण करणें महापाप आहे. तें स्वतः खाऊं नये व दुसऱ्यास देऊं नये. कारण निर्माल्य भक्षण करणाऱ्या मनुष्यास चोरीचा दोष लागतो आणि त्यास अंतरायकर्माचे आश्रव येतात, वगच्छेद होऊन शेवटीं त्यास दुर्गति प्राप्त होते याकरितां निर्माल्यद्रव्य अग्निकुंडांत भस्म केलें पाहिजे. याचप्रमाणें पंडितजींनीं निर्माल्यद्रव्य नियोगीशिवाय इतरानीं भक्षण करूं नये अशी शास्त्राची आज्ञा दाखवून आपलें मत प्रदर्शित करावें अशी त्यांस पुन्हा एकदां नम्र विनंति करून हा लेख संपवितों.

ता. १०-१०-२१.

आपला नम्र,

माणिक गोविंद कटके, सोलापूर.

निर्माल्यद्रव्य-चर्चा.

जुलाई सन १९२१ के जैन सिद्धांतमें प० वनसीधरजी लिखते हैं कि, तत्वार्थ सारका अर्थ लिखा है उसमें और इस लेखमें फरक पडा ऐसा जो आक्षेप किया है सो बराबर नहीं है लिखाने रकम और पेटेकी रकम देखनेसे फर्क नहीं है ऐसा मालुम होगा. इसका उत्तर ऐसा है कि तत्वार्थ सारके 'विघ्नकरणमतरायस्य' इसमूत्रका अर्थ अथमे इति तक कोई भी देखेगा तो मलुम होगा कि, उसमें देवसेवा करनेवाला नियोगी यदि निर्माल्यग्रहण करेगा उसको अंतराय कर्मके आस्रव नहीं होंगे ऐसा लिखाही नहीं है. ग्रहण करनेवालेको आस्रव होता है ऐसा लिखा है.

फिर भी अशुभनाम कर्मके आस्रवोंमें भी लिखा है.

चैत्यस्य च तथागन्धमाल्यधूपादि मोषणम् ॥

× × × × × +

अशुभस्येति निर्दिष्टा नाम्न आस्रव हेतवः ॥ ४७ ॥

अर्थात्ः—प्रतिमाके गंध, माला, धूप इत्यादि चीजोंकी चोरी करना वगैरह अशुभ नामकर्मके आस्रव दिखाया है.

(तत्वार्थसार अ० ६ श्लो. ४७)

निर्माल्यद्रव्य ग्रहणको चोरी समान गिना है. सो इस मुजब—

क्षेत्रे ग्रामे खले घोषे पत्तने काननेऽध्वनि

विस्मृतं पतितं नष्टं निहितं स्थापितं स्थितम् ॥ ४९ ॥

अदत्त न परद्रव्यं स्वीकुर्वन्ति महाधिपः ॥

निर्माल्यमिव पश्यन्तः परतापविभीरवः ॥ ५० ॥

अर्थात्ः—खेतमें गांवमें खलियानमें (खलेमें) गौशालामें पत्तनमें (नगरमें) वनमें और मार्गमें भूके हुये, गिरे हुये, हराये हुये, गढे हुये, रक्खे हुये, वा स्थापन किये हुये, विना दिये हुये (मालिककी आज्ञाके विना) पर द्रव्यको निर्माल्यकी समान देखतहुये परतापसे भीत बुद्धिवान्पुरुष कदापि ग्रहण नहीं करते

(पं० पन्नालालजी बाकलीवालकृत—धर्मपरीक्षा उत्तरार्ध भाषे पृ० २७०।२७१)

अब विघ्नकरणत्व हेतुके ऊपर पंडितजीका जो बहोत जोर है. उसका उत्तर हम दे चुके हैं कि,—भगवानको अर्पण किया हुवा द्रव्य निर्माल्यकूटमें डाला जाता है तबतक वह पूजाही है इस कार्यके पहिलेही जो कोई उठालेगा उसने पूजनमें विघ्न किया यह बात सिद्धही है. निर्माल्यकूटमें निर्माल्यद्रव्य डालना चाहिये यह बात पंडितजी कबूल कर चुके है. तो फिर उसके पहलेही कोई उठाले जायगा तो उसने पूजनमें विघ्न किया अथवा चोरी किई ऐसा कहनाही पडेगा. विघ्नकरणत्व हेतु

सिवाय इतर केई बातोंसे अंतरायकर्मके आस्रव होते हैं ऐसे वाक्य आचार्योंके लिखे हुवे हम बता चुके हैं उनको कैसे छोड सकोगे ? यदि नियोगी–पुजारी निर्माल्य ले जायगा तो निर्माल्यकूटमें क्या डालोगे? इस प्रश्नपर पंडितजी अभीतक निरुत्तर हैं.

पंडितजीने निर्माल्यका त्याग करनेवालेपर लोभ कषायका दोष दिया था. उसका उत्तर देते समय–लोभ कषायका दोष निर्माल्य त्याग करनेवालेपर होता नहीं निर्माल्य ग्रहण करनेवालेपर होता है ऐसा हमने लिखा है सो योग्यही है. त्यागधर्मका अर्थ लोभ कषायका अ-स्तित्व ऐसा पंडितजी करेंगे तो क्या माननाही पडेगा ?

पंडितजी लिखते हैं "हम द्रव्यपूजाके समर्थक होनेसे थोडा तो भी द्रव्यपूजामें खर्च करेंगे. परंतु शेठजी निषेधक होनेसे अग्नि-कुंडका उन्हें जन्मभरमें एक दो बारही मोका मिला होगा. इसलिये सेठजी बिल्कूलही सूखानमस्कार करनेवालोंमेंसे एक हैं." इत्यादि इसका उत्तर ऐसा है कि, हम द्रव्यपूजाके निषेधक हैं ऐसा जो पंडितजी कहते हैं सो बिल्कूल असत्य है. हमने द्रव्यपूजाका निषेध नहीं किया है, ऐसा पंडितजीके लेखपरसेही सिद्ध होता है. हमने अग्निकुंडमें एक दो बारही पूजन किया ऐसा पंडितजी लिखते है यदि अग्निकुंडमें पुजन होता है सो द्रव्यपुजनही है तो फिर द्रव्यपुजनका निषेधक अग्निकुंडमें पुजन कैसा करेगा ? इससे हमारे ऊपरका द्रव्यपूजनके 'निषेधक' नामका दोषारोप पंडितजीके वाक्योंसे ही खंडित होता है हम निर्माल्यके निषेधक है और पंडितजी निर्माल्य ग्रहणके प्रतिपादक है. पंडितजी थोडा तो भी द्रव्यपूजामें खर्च करते हैं वैसा हम भी थोडासा हररोज द्रव्यपूजामें खर्च करते है. पंडितजी दो लविंगसे अथवा तीन चापलसे द्रव्य पुजा करते होंगे. हम दो अगरबत्तीसे करते हैं. सो भी द्रव्य पुजन कहा जाता है. हम सूखानमस्कार करनेवालेमेंसे एक हैं ऐसा पंडितजी लिखते हैं. सो कोई वखत पंडितजीके खीसेमें लवंग न होनेसे पंडितजी

कू भी सूखानमस्कार करना पड़ता है वैसा हमको भी अगरबत्ती नजीक न होनेसे अथवा सजगानेकी सामग्री न होनेसे सूखानमस्कार भी करना पडता है. और ऐसा सूखानमस्कार दहोतसे श्रावक करते देखनेमें आते है इसमें कोई पाप है ऐसा पंडितजीने बतलाया भी नहीं. सूखानमस्कार करने की तो शास्त्राज्ञा—" वचो विग्रह संकोचो द्रव्य पूजा निगद्यते " इस अमितगतिश्रावकाचारसे मिलती है लेकिन द्रव्यपूजनमें द्रव्य अर्पण करके उस निर्माल्य द्रव्यको देवसेवाके बदलेमें उठालेनेको शास्त्राज्ञा जैनधर्ममें नहीं है.

पंडितजी पत्र २४ में लिखते है कि,—" अब सवाल यह हो-जाता है कि, निर्माल्य ग्रहण को यदि पाप मानें जैसा कि ग्रंथकारोंने बताया है तो उसे उक्त पाच पापोंमें गर्भित करलेना चाहिये या नहीं? धर्मशास्त्रोंका उपदेश देखनेसे पता लगता है कि पाचके सिवा छट्ठा पाप कोई नहीं है, तो फिर इसे भी किसीमें गर्भित करनाही होगा. इसीलिये हमने अपने लेखमें बतायाथा कि राजवार्तिक कारके कथनानुसार अंत-राय—विघ्नका कारण होनेसे चोरीमें इसे गर्भित करना चाहिये." इत्यादि.

इसपरसे देखना चाहिये कि पाचके सिवा छट्ठा पाप कोई नहीं है यह कैसा कह सकते? धर्मशास्त्रमें कर्मकी एकसो अडतालीस प्रकृति कही है उसमें एकसौं प्रकृति पाप बंधकी बताई है उस पाप प्रकृतियोंमें ही अंतरायकर्म है यदि पांचमेंही गर्भित करना चाहो तो भी आपने निर्माल्य ग्रहणको चोरीके पापमें गर्भित करलिया है निर्माल्यद्रव्य ग्रहण करनेमें पाप है ऐसा श्रीकुंदकुंदाचार्य. श्रीअकलंकाचार्य, श्रीअमृतचंद-सूरि, श्रीसकलकीर्ति आचार्यके ग्रथोंमें लिखा आप भी बतारहे है तो फिर सवाल काहे का? देवसेवा करनेके बदलेमें निर्माल्यद्रव्य उठाके उसको पाप नहीं है ऐसा कोई श्लोक अथवा सूत्र अथवा वार्तिक है ही नहीं. केवल आपकी कल्पना है. उसका कारण पुजारियोंका पेट कैसा भरेगा और यदि निर्माल्य उनको नहीं मिलेगा तो मंदिरजीमें पुजा

होना बंद होजायगी इस फिजूल भयसे आप उनको निर्माल्यके पापसे छुडाना चाहते है. लेकिन डरनेका कुछ काम नहीं है. उनोंने निर्माल्य ग्रहण करना छोड दिया तो उनको आजीविका पुरती तनखा मंदिरजी बनानेवाले और प्रतिष्ठा करानेवाले दे सकते है. श्रीकुंथलगिरीमें दस मंदिर हैं उनमें पूजा करनेवाले निर्माल्य नहीं लेते है. उनको तनखा मिलती हैं. वऱ्हाड, मध्यप्रात, बंगाल, उत्तर हिंदुस्थान इत्यादिमें पूजन करनेवाले निर्माल्य नहीं लेते हैं उनको तनखा मिलती है जिससे पूजनका काम बराबर चला है. सोलापूरमेंभी सेतवालके मंदिरमें भगवानका प्रक्षाल करनेवाला निर्माल्य नहीं लेता है उसको पंधरा रुपये तनखा मिलती हैं. मुख्य देवसेवा तो प्रक्षाल करनेकी है. निर्माल्य लेजानेवाला जो उपाध्याय है सो प्रक्षाल समाप्त हुयेबाद साडेनऊ बजे आता है. और एक प्रतिमा पीठमें रखकर दूधका अभिषेक करता है और दोचार अर्घ्य देता है. इतना काम तो इतर श्रावक भी करते हैं. लेकिन उपाध्याय तो निर्माल्य सब एकत्र कर गठडी बांधकर घटे देडघंटेमें चला जाता है. बडे मंदिरजीमें जब क्षुल्लक मन्नालालजी आयेथे उस वखत उनोंने निर्माल्य ग्रहण करनेवालेके हातसे पूजा नहीं करानी चाहिये ऐसा कहा, तब शेठ हिराचंद अमीचंदने अकेलेने पंधरा रुपये महावारी देना कबूल कियाथा. इससे अनुमान होता है कि पंडितजीका डर फिजूल है. जो आदमी दसबीस हजार रुपये खर्च करके मंदिर बनायगा अथवा प्रतिष्ठा करायगा उसको दस पाच रुपये महिनेका खर्चा पूजाके वास्ते क्या नहीं मिलेगा? लाखों रुपये धर्म काममें श्रावक लोक खर्च करते है तोभी पंडितजी उनके ऊपर कृपणताका ही दोषारोप रखते हैं. निर्माल्यके बदलेमें उपाध्याय वर्गको तनखा मिलेगी तो क्या वे धर्म मार्गमें लगे नहीं रहेंगे? क्या निर्माल्य खानेसेही धर्म मार्गमें आदमी लगा रहता है?

निर्माल्य खानेवालेकी भाडोत्री पूजा हो जानेसे श्रावकोंका बडा भारी नुकसान हुवा है. वऱ्हाड मध्यप्रातमें निर्माल्य भक्षकोंके हातसे

पूजा नहीं कराते आप खुद करते है जिससे उनको पूजाका पाठ सबे कंठगत है. जहां निर्माल्य भोजीके हातमे पुजा होती है वहाके श्रावकों-को 'उदकचंदन तंदुक' इतनाभी पाठ आता नहीं. उनको उपाध्याय कहता है "तुम बाहार बैठो और झागट वजाओ मै सब पुजा करलेता हों." पंडितजी कहते है भरतचक्रीने और आदिनाथ तीर्थंकरने इनको पुजा करनेको और निर्माल्य लेनेको नियत किया है. परंतु ऐसा कोई वाक्य पंडितजीने वताया नहीं. भरतचक्रीने अन्य वर्णमेंसे ब्राह्मणवर्ण बनाया सो चौथे कालके अंततक ठीक चलेगा पंचम कालमें भ्रष्ट होबा-यगा ऐसा श्रीआदिनाथ महाराजने कहा है. देखो आदि पुराण पर्व ४१ में पं. लालारामजी लिखते है.

"भरतचक्रेश्वर भगवानसे इस प्रकार निवेदन करने लगा॥ कि हे भगवन्! मैंने आपके द्वारा कहे हुये उपासकाध्याय सूत्रके अनु-सार चलनेवाले और श्रावकोंके आचरण करनेमें निपुण ऐसे ब्राह्मण निर्मापण किये हैं ॥३०॥ हे प्रभो इन्हें मैंने ग्यारह प्रतिमाओंके विभा-गसे व्रतोंके चिन्हरूप एकसे लेकर ग्यारहतक यज्ञोपवीत दिये है। हे देव! समस्त धर्मरूपी सृष्टिको साक्षात् उत्पन्न करनेवाले ऐसे आपके होते हुये भी मैंने अपनी वडी मूर्खतासे यह काम किया है ॥ ३२ ॥ हे नाथ इस ब्राह्मणोंकी रचनामें क्या दोष है और क्या गुण है तथा इनकी रचना योग्य हुई अथवा अयोग्य इस तरहके झूलेमें मेरा चित्त झूल रहा है. आप इसका निश्चयकर इस मेरे मनको स्थिर कर दीजिये।३३।

भगवान कहने लगे हे वत्स! तैने जो साधुओंके समान धर्मा-त्मा द्विजोंका पूजन किया है सो वहुतही अच्छा किया है, परंतु इसमें कुछ दोष है उसे तू सुन ॥ ४५ ॥ हे चिरजीव! तेने जो इन गृहस्थों-की रचना की है सो जवतक चौथाकाल है तवतकतो ये अपने योग्य आचरणोंका पालन करते रहेंगे ॥ ४६ ॥ परंतु जब कलियुग समीप आ-जायगा तब ये अपनी ब्राह्मण जातिके अभिमानसे अपने सदाचारसे भ्रष्ट

होकर इस श्रेष्ठ मोक्षमार्गके विरोधी बन जायंगे ॥ ४७ ॥ पंचम कालमें ये लोग " हमें सब लोगोंसे बडे हैं " इस प्रकार ब्राह्मण जातिके अभिमानसे फंसकर केवल धनकी इच्छासे मिथ्याशास्त्रोंके द्वारा सब लोगोंको मोहित करते रहेंगे ॥ ४८ ॥ " इत्यादि.

इसपरसे अनुमान होता है कि, उपाध्याय वर्ग तुवरके दालका, चनेके दालका अभिषेक करते हैं वर प्राप्तीके वहानेसे क्षेत्रपाल पद्मावति आदिके पूजनका बंड शास्त्राज्ञाविरुद्ध उन्होंनें बढाया ऐसा जैनबोधकार लिखते हैं. और एकही पीठमें अर्हतकी प्रतिमा और पद्मावतीको रखकर अभिषेक शास्त्राज्ञाविरुद्ध करते है.ऐसा पंडित जिनदास लिखते हैं. सो सब भरतचक्रीके स्वप्नोंका भविष्य श्री आदितीर्थकरने अपने दिव्यध्वनीमें बताया सो ही देखनेमें आता है.

निर्माल्यपर निर्वाह करनेवाले उपाध्याय वर्ग बडे पवित्र है उनको अपवित्र कहनेवाले मूर्ख है ऐसा पंडितजी कहते हैं. परंतु इनके पवित्रताकी योग्यता कितनी है इस विषयमें इनके श्रद्धेय भट्टारक सोमसेनने अपने त्रैवर्णिकाचारमें **देवार्चक** (देवसेवानियोगी) और **निर्माल्यभोजी** ये इतर पातकी समान पंक्तिभोजनत्याज्य हैं ऐसे कहा है यह ग्रंथ पं० कल्लप्पा भरमप्पा निटवेने सार्थ मराठीमें लिखा है वे पृ० ३२६। ३२७ लिखते हैं कि—

भोजनपंगतमें अयोग्य मनुष्य ये हैं—

पंक्त्ययोग्यं ततोवक्ष्ये विजातीयो दुरात्मकः ॥
मलयुक्ताम्बरोऽस्नातश्छिन्नांगः परनिन्दकः ॥ १५४ ॥
श्वासीकासी व्रणी कुष्ठी पीनसच्छर्दिरोगिणः ॥
मिथ्यादृष्टि र्विकारीच उन्मत्तः परिहासकः ॥ १५५ ॥
असंतुष्टश्च पाखण्डी लिंगी भ्रष्टः कुवादिकः ॥
सप्तव्यसनसंयुक्तो दुराचारी दुराशयः ॥१५६॥
चतुष्कषायिको दीनो निर्घृणांगोऽभिमान्यपि ॥

अतिबालोऽतिवृद्धश्चातिश्यामोऽतिमतिभ्रमः ॥ १५७॥
पण्ढश्च पश्चिमद्वारी पंचभिश्च वहिष्कृतः ॥
देवार्चकश्च निर्माल्यभोक्ता जीवविनाशकः ॥ १५८॥
राजद्रोही गुरुद्रोही पूजापीडनकारकः ॥
वाचालोऽतिमृषावादी वक्रांगश्चातिवामनः ॥१५९॥
इत्यादि दुष्टसंसर्गं सन्त्यजेत्पंक्तिभोजने ॥
श्वानसूकरचाण्डालम्लेच्छहिंसकदर्शनम् ॥१६०॥

अर्थात्—अब भोजन पंक्तीमें अग्राह्य कौन कौन है सो कहते है. अपने जातसे भिन्न मानव, दुष्ट अंतःकरणका, मलीन वस्त्र धारण करणहारा, स्नान न किया हुआ, जिसका कोई अवयव टूटगयाहो ऐसा, लोगोंकी निंदा करणहारा; श्वास, कास, व्रण, कुष्ठ, पीनस और वमन इनमेंसे कोई भी बीमारी जिसको हो गई हो, सतत बीमार हुवाहो, मिथ्यादृष्टि, निष्कारण शरीर झुकानेवाला, उन्मत्त हुवा हो, हमेशा विनोद करनेवाला, असंतुष्ट मनका, पाखण्डी, शरीरपर मुद्रा वगैरह चिन्ह धारण करनेवाला, भ्रष्ट हुवा, विसंवाद करनेवाला, सप्तव्यसनोंमेंसे कोई भी व्यसन जिसनें ग्रहण किया हो, दुराचरण करनेवाला, अपने मनमें दुष्ट भाव धारण करनेवाला, चतुष्कषाय धारण करनेवाला, दरिद्री, निर्दय, अभिमानी ऐसे मानवोंको भोजनपंगतमें न लेना चाहिये.

और ऐसेही अतिछोटा बच्चा और अति बुड्ढा मानव इनकोभी पंक्तिमें नही लेना. अतिश्यामवर्णवाला और जिसके बुद्धीको भ्रम हुवा हो ऐसा पंगतमें नहीं लेना. नपुंसक, गुदद्वारको प्रतिबंध न करनेवाला, पंचोंसे बहिष्कृत हुवाहो, सतत देवपूजाकरके अपना उदरनिर्वाह करनेवाला, निर्माल्यभक्षण करनेवाला, जीवोंका घात करनेवाला, राजद्रोह, गुरुद्रोह करनेवाला, पूजामें विघ्न करनेवाला, व्यर्थ बकवाद करनेवाला, झूठ बोलनेवाला, जिसके अवयव टेढा हो ऐसा, और अतिवामन, ऐसे मानवोंको पंगतमें नहीं लेना चाहिये.

इस परसे निर्माल्यपर आजीविका करके पूजन करनेवालोंका दर्जा कितना हलका बताया है सो विचारना चाहिये. पंक्तीभोजनमें जिसको वर्ज किया उसके हाथसे भगवानका पूजन नहि करना ऐसा श्री० ऐलक पन्नालालजी और मन्नालालजी कहते हैं सो योग्य है.

पंडितजी कहते हैं—अर्हंतकी पूजाकरके उनका विसर्जन हुये बाद अर्हंतका स्वत्व निर्माल्यपरसे हट जाता है. परंतु अर्हंत भगवानका विर्सजन होताही नहीं है, वह शासन देवताओंका होता है. ऐसे जैनबोधककार अपने जानेवारी १९२२ के अंकमें लिखते है. और इनका यह मत श्री० अप्पाशास्त्री व कल्लप्पा अनंतशास्त्री इन दोनों पंडितोंने तो जैनसिद्धांतानुसार मानलिया है. ऐसे जैनबोधक १९२२ फर्वरीके अंक पृ० २३६ मेंसे ज्ञात होता है. यदि अर्हंत भगवानका विसर्जन नहीं होता ऐसा मानें तो फिर निर्माल्यद्रव्यपर उनका स्वत्व बना रहा; और वह कोई उठा लिया तो उसने भगवानकी चोरी किई. इससे विघ्नकरणत्व हेतु सिद्ध हो चुका.

पंडितजी कहते हैं पूजाके काममें लगे हुये जैन उपाध्यायको निर्माल्य ग्रहण करनेमें दोष नहीं है. इधर श्रीयुत चवरे वकील फेब्रुवारी १९२२ के जैनबोधकमें लिखते है—" निदान परधर्मी व पूजा वगैरे न करणाऱ्या माळ्याला निर्माल्यद्रव्य घेऊं देण्यांत कांहीं दोष येतो असें वाटत नाहीं. + × + निर्माल्यद्रव्य जैन लोकानीं व पूजा करणाऱ्यांनीं कोणत्याही स्वरूपानें स्वतःचे उपयोगांत आणू नये, असा निर्बंध उत्तर हिंदुस्थानांत व मध्यप्रांतांत आहे व तो अत्यंत योग्य आहे " इत्यादि इससे ज्ञात होता है कि यदि जैन धर्मीको निर्माल्य नहीं ग्रहण करना चाहिये तो फिर अन्य धर्मी मालीको देना चाहिये ऐसा कैसा कहा जायगा ? क्या मालीकेवास्ते पाप पुण्य न्यारा है ? पापपुण्यतो सभीको एकही है. यदि माली पाप नहीं समझता हो तो उसको समझाना नहीं चाहिये ? मालीभी जैनधर्मके श्रद्धानी हो सकते हैं. उनकोभी पापसे

छुडाना चाहिये. यदि मालीभी पाप समझकर निर्माल्यलेना छोडदेगा तो क्या करोगे ? मंदिरमें अग्नीकुंड रखना अव्यव्हार्य है अशक्य है ऐसा श्रीयुत चवरे लिखते हैं. सो मंदिरजीमें हवन क्रिया होती है सो अग्निकुंड संस्कारकूट निर्माल्यकूट विना कैसी होगी ? हवन क्रियाको पंडित बनसीधरजीभी मानते हैं. पूजाके समय मंदिरजीमें तीन अग्निकुंड होना चाहिये ऐसा आदिपुराणमें लिखा है तो फिर अव्यवहार्य और अशक्य कैसा कहते हैं ? क्या इस समय मंदिरजीमें अग्निकुंड देखनेमें नहीं आता है जिससे अग्निकुड अव्यवहार्य और अशक्य होगया ? पचास बरस पहले जैनीयोंमे कोई बी. ए. बी एल देखनेमें आता नहीं था उस वखत बी. ए का पढना अव्यवहार्य समझा जाताथा. अब दरसाल जैनीयोंमें दसबीस बी ए. पास होने लगे हैं सो व्यवहार्य बात होगई ! दो बरस पहले बडे आदमी कोई खादीकी टोपी और कोट पेहेरता नहीं था उसवखत वह बात अव्यवहार्य कही जातीथी. अब हजारो आदमी पेहरते देखनेमें आते हैं. जिससे वही अव्यवहार्य बात व्यवहार्य होगई ! पचास बरस पहले कई गांवमें भगवानका रथ निकालना अथवा पालखी निकालनी अशक्य बात थी अब गांवगांवमें निकलती है सो बात शक्य होगई. वैसाही धर्मपुस्तक छपाना, बोर्डिंग खोलना, पाठशाला खोलना ये बातें अव्यवहार्यथी सो व्यवहार्य हो गई हैं. जब माली लोक निर्माल्य खाना बंद करेंगे उस वखत आप निर्माल्यको क्या करोगे ? क्या ढेड चमारोंको देंगे ? निर्माल्यको अति पवित्र मानते है उसको अत्यंत पवित्र ऐसे अग्नीकुंड अथवा निर्माल्यकूटमें रखना सोही योग्य स्थान है.

देवसेवा करनेवाले उपाध्यायने यदि पं० वंशीधरजीको निर्माल्य वस्तु—दूध केला बादाम लवंग या सुपारी आदि खानेकेवास्ते दिये तो वे अन्यमतीके माफक उस निर्माल्यको प्रसाद (पवित्र) मानकर भक्षण करेंगेही, कारण पंडितजीकेमतसे वह निर्माल्य वस्तु एकतो निर्मल याने पवित्र है और दुसरे यहा विघ्नकरणत्व हेतुका असंभव होनेसे पापभी नहीं लगेगा. ऐसाहि इनके "निर्माल्यविनियोग" नामक लेखसे निष्कर्ष निकलता है.

ता. ८।२।२२

हिराचंद नेमचंद सोलापूर.

निर्माल्यद्रव्य-चर्चा.

जैनबोधक जानेवारी १९२२ च्या अंकांत कीर्तनकार चोपडेबुवा यांचा एक लेख 'निर्माल्य द्रव्य चर्चा' या मथळ्याचा आहे त्यांत श्री० चोपडेबुवा म्हणतात-"गंधोदक किती जरी प्याले तरी त्यापासून अपाय होणार नाही." परंतु घागरभर गंधोदक पिऊन पाहा भडाभड उलट्या होतात कीं नाहीं. ! तेंच घागरभर गंधोदक अंगावर ओतल्यानें कांहीं अपाय होणार नाहीं. गंधोदक प्राशन केल्यानें रोग बरे झाले असते तर तशीं उदाहरणें ग्रथात सांपडलीं असतीं.

श्रीयुत शांतारामानीं व श्री० चोपडेबुवानीं श्रीपाल राजाचें उदाहरण अंगाला गंधोदक लावण्याचें जसें दिलें तसें तें अमकयानें प्राशन केलें व त्याचा अमुक अमुक रोग बरा झाला असें उदाहरण द्यावयास पाहिजे होतें. श्री० शांतारामानीं श्री समंतभद्राचार्यांचें उदाहरण त्यानीं महादेवाच्या देवळांतील नैवेद्य खाल्याचें व त्या योगानें त्यांचा भस्मक व्याधि-रोग-बरा झाल्याचें दिलें आहे त्याबद्दल श्रीयुत कीर्तनकार चोपडे लिहितात कीं, तें उदाहरण-"शेठ हिराचंद नेमचंद यांस पटल्याचें दिसत नाहीं असें वाटतें." तेव्हां ह्यावरून तें उदाहरण कीर्तनकार चोपडे यास पटलें असावें असें अनुमान निघतें. व ज्याअर्थी महादेवाचा नैवेद्य खाल्ल्यानें श्री समंतभद्राचार्यांचा रोग नाहींसा झाला तर मग अर्हंत भगवानाचा नैवेद्य खाल्यानें श्रावकाचे आणि मुनीचे रोग बरे झालेच पाहिजेत अशी कीर्तनकार बुवाची समजूत आहे. त्याप्रमाणें त्यांनीं लोकांना उपदेश केल्यास लोक लागलीच टाळ्या वाजवितील व निर्माल्य द्रव्यावर आजारी लोकाच्या भडाभड उड्या पडतील. मग उपाध्यायाला व माळ्याला देण्याचा प्रश्नच उरणार नाहीं. चोपडे बुवानीं फार चांगला शास्त्राधार काढला !!

गंधोदक प्राशन केल्यानें रोग बरे होतात असे शास्त्राधार श्री०

चोपडे बुवांनी दाखवावयास पाहिजे होते परंतु दाखविलें नाहींत. त्याव- रून तसे आधार नाहींतच असें म्हणावें लागेल. अंगाला गंधोदक अथवा तुमती भगवंताची चरणधूलि लावल्यानें पोटांतील मोठमोठे रोग बरे होतात असे भक्तामर स्तोत्रांत म्हटलें आहे.–

उद्भूतभीषणजलोदरभारभग्ना: ॥
शोच्यांदशामुपगताश्च्युतजीविताशा: ॥
त्वत्पादपंकजरजोऽमृतदिग्धदेहा ॥
मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपा: ॥ ४५ ॥

अर्थः—ज्यास भयंकर जलोदर झालें आहे, व त्याच्या भारानें जे केवळ भग्न झाले आहेत, आणि त्यामुळें शोचनीय अवस्थेप्रत प्राप्त होऊन ज्यांनीं आपल्या जीवाची आशा सोडली आहे, असेहि कोणी असले तरी, त्यांच्या शरीरास तुझ्या चरण कमळांची धूळी हेंच कोणी अमृत, त्या अमृतानें माखिलें असतां, ते मदनासारखे सुंदर होतात. (पं० कलप्पा भरमप्पा निटवे कृत–सार्थ भक्तामर.)

ह्यात ' दिग्धदेहा ' असें पद आहे त्याचा अर्थ शरीराला माखणें, लावणें, चोपडणें असाच होतो. तोंडानें प्राशन करणें असा होत नाहीं. व जलोदर हा पोटांतील रोग आहे. तो बरा करण्यासाठीं प्राशन न करतां नुसते अंगास लावल्यानें बरा कसा होईल हा चोपडे बुवांचा तर्क आहे. परंतु जिनवाणीची आज्ञा अंगाला लावण्याची आहे. इकडे चोपडेबुवानीं लक्ष द्यावें. कारण येथें श्रीमानतुंगाचार्यांनीं भगवंताच्या चरणरजास सर्वोत्कृष्ट पेय पदार्थाचें (अमृताचें) जरी रूपक दिलें आहे तरी त्यांनीं पोटांतील रोगावर सुद्धा तें प्राशन करण्याविषयीं न सांगतां मुद्दाम अंगास लावण्यासच सांगितलें आहे. याचें कारण तरी हेंच कीं- निर्माल्य हें कोणत्याहि प्रसंगीं कोणाच्याच भक्षण करण्यांत येऊं नये ही जिनाज्ञा चालविण्याविषयीं आचार्यांनीं घेतलेली पूर्ण खबरदारीच होय. असें या- वरून स्पष्ट सिद्ध होत आहे.

यावरून पोटांतील रोगशमनार्थ तें गंधोदक वगैरे (निर्माल्य) भक्षण केलेंच पाहिजे असें जें चोपडे बुवांचें ह्मणणें आहे तें निराधार आहे असें ठरतें.

अंगाला लावणें तसेंच नाकानें फुलाचा वास घेणें आणि, तोंडानें नैवेद्य भक्षण करणें हें सगळें चोपडेबुवा ह्मणतात—"माझ्या मतानें इंद्रियांच्या धर्माप्रमाणें देवाच्या वस्तु सेवन करण्यांत पापपुण्य सारखेंच वाटलें जाईल." तेव्हां हें एक मोठेंच कोडें त्यांनी पुढें मांडलें आहे. परंतु हें कोडें त्यांच्याच लेखांतील एका वाक्यानें सहज उलगडलें जात आहे. पहा, पत्र २०१ मध्यें चोपडेबुवा लिहितात कीं, "ज्यानें परमेश्वरापुढें जी वस्तु ठेवली ती पुनः त्यानेंच घेऊं नये आणि याला शेटजींनी निर्माल्य खाणारा यांस काय फळ मिळतें याचा श्लोकाधार दिला आहे तोच श्लोक आमच्या वरील अनुमानाला आधार भूत झाला आहे."

"पुत्तकळत्तविहीणो दारिद्दो पंगुमूक वहिरंधो ॥
चांडालाइकुजादो पूजादाणाइ दव्वहरो ॥"

"अर्थः—पूजा, दान, इत्यादिकांचें द्रव्य जो घेतो तो पुत्रविहीन स्त्रीविहीन, पांगळा, मुका, आंधळा असा होऊन नीच कुळांत जन्म घेतो." (श्रीरयणसार—कुंदकुंदाचार्य.)

ह्यांत "ज्यानें परमेश्वरापुढें जी वस्तु ठेवली ती पुनः त्यानें घेऊं नये." असें जे चोपडे बुवांचें ह्मणणें आहे तेंच ह्या कोड्याचें उत्तर आहे. कारण कां घेऊं नये असा प्रश्न केल्यास घेतल्यानें पाप लागतें असें कुंदकुंदाचार्यांनी सांगितलें आहे "तें वचन प्रमाण आहे त्याच्यावर पूर्ण भरंवसा ठेवला पाहिजे" असें चोपडे बुवाच ह्मणतात. तेव्हां त्यानींच प्रश्नाचें उत्तर दिलें असून दुसऱ्याना काय ह्मणून विचारतात? कडेवर मूल असून गावभर हुडकती माझें मूल कोठें गेलें? ह्या नमुन्याचा चोपडे बुवाचा हा प्रश्न आहे!

पुढें चोपडेबुवा लिहितात—"पण वरील श्लोकाप्रमाणें उपाध्याय वर्गावर कोणताच परिणाम झालेला दिसत नाहीं. श्लोकांत झटकें आहे

की, निर्माल्य भक्षकाचा जन्म नीच कुळांत होतो पण उपाध्यायचें कुळ नीच आहे असें कोणीच ह्मणणार नाहीं." वगैरे. ह्यावरून चोपडे बुवांची अशी समजून दिसते की, नीच कुळांत जन्म होण्यासाठीं जें गोत्रकर्म बांधावें लागतें तें निर्माल्य खाणें सुरू करण्याच्या आधींच पूर्व जन्मीं बांधावें लागतें. कारण उपाध्याय वर्ग निर्माल्य खातो तो ह्या जन्मीं. तेंव्हां त्याचें फळ ह्मणजे कूळ पूर्वजन्मीं कसें बांधालें गेलें ?

ह्या जन्मीच्या पापपुण्याचें फळ ह्या जन्मीं नाहीं मिळालें तर पुढच्या जन्मीं मिळेल. परंतु उलटें मागच्या जन्मीं तें कसें जाईल ? ह्मणून उपाध्यायवर्गाचें ह्या जन्मांतील कूळ जें आहे तें मागच्या जन्माचें बांधलेलें आहे. ह्या जन्माचें कूळ कसलें बांधलें जाईल तें पुढच्या जन्मीं समजेल. तेंव्हां चोपडेबुवांनी उपाध्यायांच्या हल्लींच्या कुळाचा चांगलेपणा जो वर्णन केला तो काय उपयोगाचा ? तसेंच "उपाध्यायवर्ग अनादिकाळापासून निर्माल्य खात आला आहे, मग सारेच अंध पंगू झाले असते. स्त्रीविहीन झाले ह्मणावें तर सर्वांच्या बायका आहेत त्याकरितां वरील श्लोकाधारें असेंच ठरतें कीं, जे श्रीमंत आहेत त्यांना हें वरील आचार्यांचें वचन लागूं आहे ह्मणजे त्यांनीं एकदां जी वस्तु किंवा जें धन देवार्पण केलें किंवा देवाच्या नावानें काढून ठेवलें तर त्यांनीं तें पुनः परत घेऊं नये वगैरे ह्यावरून श्रीमतांनीं मात्र निर्माल्य खाऊं नये गरीबांनीं खाल्ल्यास त्यांना पाप लागणार नाहीं असें कीर्तनकाराचें ह्मणणें आहे. ह्मणजे गरीबाला इन्कमटॅक्स लागत नाहीं ह्मणून त्यांना निर्माल्याचेंही पाप लागत नसावें कीं काय ? बरें, निर्माल्य खाणारे उपाध्ये अंध, पंगु, स्त्रीविहीन झालेले दिसत नाहींत असें चोपडेबुवा लिहितात तर मग श्रीमंत लोक जे निर्माल्य खातात व देवाचें धन हरण करतात. त्यांतील तरी किती जण अंध, पंगु, स्त्रीविहीन असे चोपडे बुवांच्या दृष्टीस पडले ह्मणून श्रीमतांनीं निर्माल्य खाऊं नये असा अभिप्राय त्यांनीं दिला ? जेथें प्रत्यक्ष प्रमाण सांपडत असेल तेथें आगमप्रमाण मान्य करण्याची जरूरी नाहीं असें चोपडेबुवांचें ह्मणणें दिसतें. व जरी आगमप्रमाणाविषयीं

ते लिहितात कीं, कुंदकुंदाचार्यांच्या श्लोकावर भरंवसा ठेवला पाहिजे तरी त्याचा निर्माल्य खाण्याचा जो दोष आहे त्याचा अर्थ तरी निराळा करावा.' असें ते पत्र २०२ मध्यें लिहितात. त्यांनीं 'पुत्तकलत्तविहीणो' या गाथेचा अर्थ देतांना 'दारिद्दो' 'बहिरांधळाई' ह्या शब्दाचा अर्थ गाळून टाकला आहे. शेठजींच्या 'निर्माल्यद्रव्यचर्चा' नामक पुस्तकांतील पान ५ वरून चोपडेबुवांनीं ही गाथा घेतली असें म्हटलें आहे तर त्या पांचव्या पानांत गाथेच्या खालीं दारिद्दो वगैरे शब्दांचा अर्थ दिलेला आहे तो येथें कां गाळला हें समजत नाहीं कदाचित गरीबी आणि दारिद्र्य हे सारखेच शब्द असल्यामुळें निर्माल्य खाण्यानें दारिद्र्य येतें असें दिसल्यास गरीबांला निर्माल्य खाण्यास मोकळीक राहणार नाहीं. ह्यावरून श्रीकुंदकुंदाचार्यांच्या गाथेचा अर्थ बदलण्याकडे चोपडे बुवांचा रोख दिसतो. गरीबांना निर्माल्य खाण्याचें पाप लागूं नये असा अर्थ झाल्यास त्यांना पाहिजे आहे. तसेंच उपाध्याय वर्गालाही निर्माल्य खाण्यापासून पाप लागूं नये असा अर्थ " देवतानिवेद्यानिवेद्यग्रहणं " ह्या राजवार्तिकांतील वार्तिकाचा करावा अशी त्यांची इच्छा आहे. ते म्हणतात, " अर्थात् जो धनिक श्रावक देवासाठीं रक्कम अर्पण करतो किंवा करण्यासाठीं काढून ठेऊन पुन्हां त्यांत मन दाखवितो त्याला अंतराय कर्माचे आस्रव होतील. उपाध्याय वर्गाचा यांत कांहींच संबंध येत नाहीं." " हें वाक्य उपाध्याय वर्गासाठीं आहे कां धनिक श्रावकांसाठीं आहे याचा विचार वाचकच करोत. " असें जें म्हटलें आहे त्याचा आशय कसे तरी करून गरीबांला अथवा उपाध्याय लोकांना निर्माल्य खाण्यानें पाप लागूं नये असा अर्थ राजवार्तिकांतील वार्तिकाचा व कुंदकुंदाचार्यांच्या गाथेचा केल्यास बरें होईल अशी चोपडे बुवांची इच्छा आहे. परंतु ती पार पाडणें मात्र वाचकांच्या मर्जीवर आहे.

श्रीकुंदकुंदाचार्यांच्या गाथेचा व राजवार्तिक काराच्या वार्तिकाचा अर्थ फिरविण्याची इच्छा न ठेवतां सरळ अर्थ जसाचा तसा घेण्याचें चोपडेबुवानीं मनांत आणल्यास व श्रीकुंदकुंदाचार्यांची 'जिण्णुद्धार पइट्ठा

नांवची त्याच पांचव्या पानांतील गाथा डोळ्यापुढें ठेवल्यास नाकानें वास घेणें, कानानें भजन ऐकणें, अंगाला गंधोदक लावणें नदीचें पाणी फुकट पिणें, महाबळेश्वराची हवा फुकट खाणें वगैरेपासून निर्माल्याच्या दोषाचें तर्कशास्त्र उर्फ नुक्तेचेनी लढवीत बसण्याची जरूरी राहात नाहीं. त्यांनी फक्त भक्षण करण्यापासून व अपहार करण्यापासूनच महान पाप घडतें असेंच सांगितलें आहे. पहा " जो भुजइ सो भुजइ जिणुद्दिठ णिरयगइ दुक्ख ॥३१॥" ह्मणजे जिनमंदिरादिकांचा जीर्णोद्धार, प्रतिष्ठा, जिनपूजा, तीर्थवंदना ह्या संबंधाचें द्रव्य जो भक्षण करतो तो नरकगतीचें दुःख भोगतो, असें जिनेश्वरानीं सांगितलें आहे." ह्मणून ह्म-टलें आहे. नाकानें वास घेण्यापासून अथवा अंगाला गंधोदक लावल्यापा-सून पाप घडत असतें तर त्यानीं तसें सांगितलें असतें. आचार्यांच्या वाक्यावर भरंवसा ठेवला पाहिजे असें तर ह्मणावयाचें परंतु त्यांतून निसटण्या-साठीं एखादी पळवाट काढण्याचाही प्रयत्न करायाचा. ही गंमत आहे!

श्रीयुत चोपडेबुवानीं कबूल केलें आहे कीं, जी वस्तु परमेश्वरा-पुढें अर्पण केली ती वस्तु त्यानें पुनः घेऊं नये असें जर आहे तर मग ती वस्तु त्यानें दुसऱ्यास देता कशी येईल? आपण घेणें काय आणि घेऊन दुसऱ्याला देणें काय सारखेंच आहे. "न हरति यन्न च दत्ते तदकृशचौर्यादुपारमण ॥" हें जें समंतभद्रस्वामीचें अचौर्य अणुव्रताचें लक्षण आहे त्याप्रमाणें पाहिलें ह्मणजे आपण अदत्तादान घेऊं नये व तें घेऊन दुसऱ्यालाहि देऊं नये. कृत कारित हें सारखेंच जैनधर्मांत मानलें आहे.

श्रीयुत चोपडेबुवा अग्निकुंडात पूजन करण्याच्या संबंधानें व निर्माल्यद्रव्य जाळण्याच्या संबंधानें अडचण दाखवितात कीं, नारळ, फळें, नैवेद्य, अक्षत, हीं अर्पण केलेलीं जाळतां येतील, परंतु दोन हात आणि तिसरें मस्तक अर्पण केलेलें त्याचें काय करणार? तेव्हां हें ही एक मोठेंच कोडें श्रीयुत बुवानीं पुढें टाकलें आहे. परंतु याचें उत्तर एकाच 'अर्पण' शब्दांत आहे अर्पण करावयाचे जे पदार्थ असतात

ते पुन्हां घ्यावयाचे नाहींत ही गोष्ट श्रीयुत चोपडेबुवा कबूल करून चुकले आहेतच व त्याप्रमाणें अक्षत, नैवेद्य, फळ वगैरे देवाला अर्पण केलेले अग्निकुंडांत भस्म होऊन जातात व जाळूनही टाकतां येतात यांत श्रीयुत बुवाना अडचण वाटत नाहीं. अडचण काय ती फक्त दोन हात आणि तिसरें मस्तक अर्पण करणाऱ्याची राहिली तेव्हां येथें श्रीयुत बुवांना असा प्रश्न करता येईल कीं, अर्पण ह्या शब्दाचा अर्थ आपण काय करता? दाखवून परत घेणें असा अर्थ करता कां जसें खिशांतून बदाम काढून किंवा तबकडात नैवेद्य ठेवून तो देवा पुढें ठेवता तसा त्याचा सर्वस्वी वियोगपर क्रिया करण्याचा अर्थ करतां? दाखवून परत घेणें असा अर्पण शब्दाचा अर्थ कोणीहि करणार नाहीं. कारण अशा क्रियेला फसवणूक ह्मणतात. तेव्हां अर्पण ह्मणजे त्या पदार्थाचा सर्वस्वी त्याग करणें असाच अर्थ ग्रंथकारानीं केलेला आहे. त्याप्रमाणें दोन हात आणि तिसरें मस्तक अर्पण करणाऱ्यानें ते तिन्ही अवयव आपल्या धडापासून वेगळे करूनच देवापुढें ठेवावे लागतील तेव्हांच त्याला अर्पण केलें असें ह्मणता येईल व असें ज्यावेळीं वेगळे करून देवापुढें ठेवाल त्याच वेळीं त्याला कोणीहि उपाध्याय अथवा गरीब मनुष्य घेण्यासाठी पुढें न येतां त्या अवयवाना लवकर जाळून टाका असेंच ह्मणेल. इतकेंच नाही तर बाकीचें उरलेलें रक्तबंबाळ झालेलें धडही देवळातून लवकर काढून टाका व जाळून टाका असेंच उपाध्याय लोक ह्मणतील. तेव्हां श्रीयुत बोवाच्या कोड्याचें उत्तर त्याच्या एका अर्पण शब्दामध्येंच आहे कीं नाहीं? पहा विचार करा, देवाला हात व मस्तक कोणी अर्पण करीत नसतो. हात जोडतो व मस्तक नमवितो. मस्तक अर्पण करण्याचे शब्द अन्यमती लोकात वापरले जातात व त्यांतून एखादा आपलें मस्तक कापून देवाला अर्पण करतो. परंतु जैन तसें करीत नाहींत. असली आत्महत्येची भक्ति करणें महान पाप आहे असें जैन समजतो.

उपाध्याय वर्गाचें कूळ फार उंच असल्याबद्दल श्री० चोपडेबुवा

लिहितात. पत्र २०२ मध्यें ते लिहितात कीं,—" आज जैनांमध्यें सर्व क्रिया विधियुक्त म्हणजे संध्या, मौंजीबंधन, पूजा अर्चा, यज्ञोपवीत धारण करणें, पुनर्विवाह विरोधी, सोंवळें शुचिर्भूतपणा इत्यादि सर्व गुण जैनांमध्यें बहुतेक यांच्या इतके दुसरे ठिकाणी मिळणें कठीण पडेल. + + उपाध्यायाचें कुल नीच आहे असें कोणीच म्हणणार नाहीं." वगैरे वगैरे.

आतां ज्या त्रैवर्णिकाचारग्रंथाच्या आधारानें उपाध्यायलोक सदरील सर्व क्रिया करीत असतात त्याच ग्रंथांत सांगितलेल्या पंक्तीभोजनाला घेण्यास अयोग्य माणसांमध्येंच उपाध्यायाची गणना केली आहे. पहा.—

पंक्तीला घेण्याला अयोग्य मनुष्यें—

पंक्त्ययोग्यं ततोवक्ष्ये विजातीयो दुरात्मकः ॥
मलयुक्ताम्बरोऽस्नातश्छिन्नांगः परिनिन्दकः ॥ १५४ ॥
श्वासी कासी व्रणी कुष्ठी पीनसच्छार्दिरोगिणः ॥
मिथ्यादृष्टिर्विकारीच उन्मत्तः परिहासकः ॥ १५५ ॥
असंतुष्टश्च पाखण्डी लिंगीभ्रष्टः कुवादिकः ॥
सप्तव्यसनसंयुक्तो दुराचारो दुराशयः ॥ १५६ ॥
चतुष्कषायिको दीनो निर्घृणांगोऽभिमान्यपि ॥
अतिबालोऽति वृद्धश्चातिश्यामोऽतिमतिभ्रमः ॥ १५७ ॥
षण्ढश्च पश्चिमद्वारी पश्चाभिश्चबहिष्कृतः ॥
देवार्चकश्च निर्माल्यभोक्ता जीवविनाशकः१५८
राजद्रोही गुरुद्रोही पूजापीडनकाकरः ॥
वाचालोऽतिमृषावादी वक्रांगश्चातिवामनः ॥ १५९ ॥
इत्यादिदुष्टसंसर्गं सन्त्यजेत्पंक्तिभोजने ॥
श्वानसूकरचाण्डालम्लेंच्छहिंसकदर्शनम् ॥ १६० ॥

(सोमसेनकृत त्रैवर्णिकाचार सार्थ पृ. ३२६)

या श्लोकांचा अर्थ पं. कलप्पा निटवे यानीं केला आहे तो असा—

अर्थः—आतां पंक्तीस घेण्याला अयोग्य कोण कोण आहेत तें सांगतात—आपल्या जातीहून निरानिराळ्या जातीचा मनुष्य, दुष्टमनाचा,

मळकट वस्त्र अंगावर घेणारा, स्नान न केलेला, ज्याचा कोणता तरी अवयव तुटलेला आहे असा, लोकाची निंदा करणारा, श्वास, खोकला, व्रण, कुष्ट, पेनसी आणि ओकारी ह्यांपैकीं कोणताहि रोग ज्याला असेल तो, नेहमीं रोगी असलेला, मिथ्यादृष्टि, उगीच अंगहलविणारा, उन्मत्त झालेला, नेहमीं थट्टा करणारा, असंतुष्ट मनाचा, पाखण्डी, अंगावर मुद्रा वगैरे चिन्हें धारण करणारा, भ्रष्ट झालेला, दुष्टवाद करणारा, सात प्रकारच्या व्यसनापैकीं कोणतेंहि एखादें व्यसन ज्याला आहे असा, दुराचार करणारा, मनांत दुष्टभाव धरणारा, चार कषाय ज्याला आहेत असा, दरिद्री, निर्दय, अभिमानी अशा मनुष्याना पंक्तीस घेऊं नये. अगदीं ल्हान मूल आणि अतिशय वृद्ध मनुष्य ह्याना पंक्तीस घेऊं नये. अतिशय काळा असलेला मनुष्य, ज्याच्या बुद्धीला भ्रम झाला आहे असा मनुष्य पंक्तीस घेऊं नये. नपुंसक, गुदद्वाराला प्रतिबंध नसलेला, पंचांनीं ज्याला बहिष्कृत केलें आहे असा, नेहमीं देवपूजा करून उदरनिर्वाह करणारा, निर्माल्य खाणारा, जीवाचा घात करणारा, राजद्रोह गुरुद्रोह करणारा, पूजेला विघ्न करणारा, उगींच बडबडणारा, खोटें बोलणारा, ज्याचे अवयव वांकडे आहेत असा, आणि फारच गिड्डा असलेला, अशा मनुष्याना पंक्तीस घेऊं नये. भोजनाचे वेळीं कुत्रें डुक्कर, चाण्डाल, म्लेंच्छ आणि हिंसा करणारे ह्याचें दर्शन करूं नये.

ह्यावरून उपाध्यायाच्या कुळाचा विचार करतांना हे श्लोकही विचारांत घ्यावेत अशी आमची सूचना आहे.

सोलापूर, ता. २०।२।२२. } बापूचंद जेठीराम सोलापूर.

निर्माल्यद्रव्यावर अनेकांच्या वेगवेगळया उड्या.

निर्माल्यद्रव्य देवसेवा करणाऱ्या पुजाऱ्यांनीं घ्यावें असें पं० बनसीधरजी म्हणतात. श्रीयुत नत्रे वकील ह्मणतात कीं,— तें जैनांला

देण्यांत पाप आहे अजैन असलेल्या माळ्याला द्यावें. श्रीयुत कीर्तनकार चोपडे बुवा म्हणतात. निर्माल्य खाल्ल्यानें पोटांतील रोग बरे होतील. परंतु तें श्रीमंतानीं खाऊं नये गरीबानें व उपाध्यायानें खावें त्याप्रमाणें निर्माल्यद्रव्यावर अनेकांच्या वेगवेगळया उड्या दिसतात. त्यावरून एक दृष्टांत आठवतो तो असा– एका स्वरूपवान वेश्येचें प्रेत स्मशानांत आणलें होतें तेथें एक कुत्रें, एक कामी पुरुष आणि एक धार्मिक मनुष्य असे उभे होते कुत्र्यानें त्या प्रेताकडे पाहून मनांत म्हटलें की, हें प्रेत मला खावयास मिळालें तर माझी भूक शमून मला आनंद होईल. कामी पुरुष म्हणाला कीं, अशी स्वरूपवान स्त्री भोगण्यास मिळाली तर केवढी बहार होईल तो धार्मिक मनुष्य म्हणाला कीं, असें उत्तम शरीर ह्या स्त्रीला मिळालें असून तिनें त्याचा तपश्चरणादि सत्कार्यांत उपयोग न करिता तें व्यर्थ घालविलें, जाळून टाका. अशा तऱ्हेनें आपआपल्या कल्पनेंप्रमाणें त्यानीं वेगवेगळे अभिप्राय दिले. तसेंच हल्लींही निर्माल्यद्रव्य कोणाला तरी देऊन बदला त्याच्याकडून देवाच्या पूजेची अथवा देवळांतील झाडलोट करण्याची कामगिरी करून घ्यावी, निदान रोग बरे करण्यासाठीं औषध म्हणून त्याचा उपयोग करावा अशा सूचना होत आहेत. अशा कल्पना सुचण्याचें कारण अन्यमती लोकांत निर्माल्यद्रव्य खाण्यात पाप कांहीं मानीत नसून तें प्रसाद म्हणून खाण्यांत येतें. तर मग जैनानींच तें खाण्यांत पाप कशासाठीं मानावें ? असा समज बहुसंख्येच्या सहवासानें होणें साहजिक आहे. परंतु जैनानीं लक्षात ठेवावें कीं, जैनाचार्यांनीं निर्माल्य ग्रहण करण्याचें फार पातक सांगितल्यामुळेंच जैनांनीं देवळें व्यवस्थापकांच्या मालकीचीं झालीं नाहींत व बडवे, सेवाधारी, पुजारी वगैरे सारखे देवळांचे ठटेबखेडेहि कोर्टांत गेले नाहींत.

सोलापूर
ता० २८।१।२२

आपला,
शंकर पंढरीनाथ रणदिवे.

	किं. रु.	आ.
श्रीसमंत भद्रा० चरित्र	०	४
विधवा विवाह खंडन....	०	४
प्रतिमा पूजन	०	४
जैनधर्माचें प्राचीनत्व	०	८
जैनधर्माचा प्राचीन इतिहास	१	४
धर्मपरीक्षा मराठी	१	८
स्वयंभूस्तोत्र सार्थ	२	८
पापपुण्याचीं कारणें	०	१
अशौचनिर्णय चर्चा	०	४
शासनदेवतापूजन चर्चा	०	४
सुभाषितावली ...	१	४

हिंदी भाषाके ग्रंथ

भगवती आराधना	४	०
ज्ञानार्णव	४	०
गोम्मटसार कर्मकांड	२	०
पद्मपुराण	६	०
हरिवंशपुराण	५	०
पाण्डवपुराण	२	१२
तेहरद्वीपविधान ...	२	१२
आत्मख्याति समयसार	४	०
सर्वार्थसिद्धि	४	०
स्याद्वादमंजरी	४	०
प्रद्युम्नचरित्र	२	१२
समयसार नाटक	२	८
श्रावकधर्मसंग्रह	२	४
प्रवचनसार परमागम	३	०
धर्मसंग्रह श्रावकाचार	२	०
मोक्षमार्ग प्रकाश	१	१२
श्रेणिक चरित्र	१	१२
भक्तामरकथा यंत्रमंत्रकी	१	४
पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय	१	४
स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा	१	८
चरचा शतक	०	१२

	किं. रु.	आ.
चोवीस तीर्थंकरपूजा	०	१२
भाषापूजा संग्रह	०	८
नित्यनेम पूजा	०	४
द्रव्यसंग्रह	०	४
रत्नकरंड	०	४
जैनपद संग्रह भाग १.	०	४
जैनपदसंग्रह भाग २....	०	४
,, ,, ३....	०	४
,, ,, ४....	०	८
भूधर जैनशतक ...	०	१०
क्रियाकोश	१	८
हिराचंद अमोलिकचीं पदें	०	९
दर्शनकथा छंदबंदी	०	६
अकलंकस्तोत्र	०	३
जिनशतक हिं. अर्थ.	०	१२
वृंदावन पूजा	०	१२
पार्श्वनाथ चरित्र छंदबंदी	१	७
भाषापूजा	०	८
चोवीसठाण चर्चा ...	०	६
बृहद्द्रव्यसंग्रह	२	०
सिद्धांतप्रवेशिका	०	३
मृत्युमहोत्सव ...	०	३
यशोधर चरित्र हिं. अर्थ	२	०
नरकाचित्रादर्श	०	१०
नित्यपाठसंग्रह हिंदी	०	८
रत्नकरंड श्रावकाचार ...	४	०
बनारसिविलास छंद	१	८
शिखरजी महात्म्य	०	१
आलोचना सामायिक	०	१
छहढाला	०	१
निर्वाणकांड	०	१
पंचकल्याणिक रूपचंदकृत	०	१
धर्मविलास	०	६

	कि. रु.	आ.
स्याद्वाद मंजरी	... ४	०
जैनशतक	.... ०	३
जैनसिद्धांत संग्रह	.... २	८
षट्पाहुड	.... १	०
उपमिति भवप्रपञ्च	.... १	०
धर्मपरीक्षा	... १	०
भद्रबाहुचरित्र	.... १	०
ज्ञानसूर्योदय नाटक	... ०	०
अंजना सुंदरी नाटक	.... ०	८
समाधिमरण	.... ०	१
श्रावकवनिताबोधिनी	.... ०	६
नागकुमार चरित्र	.... ०	६
प्रद्युम्न चरित्र	.... ०	८
सृष्टिकर्तृत्वमीमांसा	.... ०	१
आराधनाकथासार कोश	२	८
स्वानुभवदर्पण	.... ०	४
अनुभव प्रकाश	.... ०	६
भट्टारक-चर्चा	.... ०	१
सार्वधर्म	... ०	१
सप्ततत्त्व विचार	.... ०	१
जैनधर्माचें सौंदर्य	.... ०	०॥
जैनधर्माची माहिती	.... ०	२
जैनार्णव	.... १	४
धर्मप्रश्नोत्तर	.... २	०

संस्कृत पुस्तकें.

कातंत्र व्याकरण	.... १	०
दशलाक्षणिक पुजा	... ०	१०
जैनकथाद्वाविंशति	.... ०	२
प्रमेयकमलमार्तंड	... ४	०
आत्ममीमांसा समंतभद्राचार्य कृत	... ३	०

	कि. रु.	आ.
आप्तपरीक्षा	.... १	०
समयप्राभृत कुंदकुंदाचार्यकृत	.... १	४
समयप्राभृत द्वितीयखंड	१	४
समयप्राभृत चतुर्थखंड	.... १	४
धर्मरत्नोद्योत	.... १	०
अलंकार चिंतामणी	.... ०	१२
देवशास्त्रगुरुपूजा	.... ०	४
पंचस्तोत्र मूळ	.... ०	२
नित्यपाठ संग्रह	.... ०	६
नंदीश्वर भक्ति	.... ०	३
सनातन जैनग्रंथमाला	.... १	१
पंचाध्यायी	.... ०	१२
पार्श्वाभ्युदय काव्य	.... ०	१२
गोम्मटसार मूळगाथा	.... ०	६
परीक्षामुख	.... ०	१२
विश्वलोचन कोश	.... १	८
भक्तामरमूळ	.... ०	१
न्यायदीपिका	.... ०	१२
जैनप्रक्रिया संग्रह	.... ०	१२
सागारधर्मामृत	.... ३	०
राजवार्तिक....	.... ९	०

गुजराथी पुस्तकें.

क्षमाविधी	.... ०	२
सुकुमाळ चरित्र	.... ०	८
सल्लेखना मृत्युमहोत्सव	.... ०	४
अनित्यपंचाशत्	.... ०	२
जैनीझम इन्ट्रोडक्शन इ..	०	८